समयसार अनुशीलन

(भाग १ का पूर्वार्द्ध — गाथा १ से २५ तक)

लेखन एव गाथा व कलशो का पद्यानुवाद

डॉ हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम ए, पीएच डी

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन ५१५५८१, ५१५४५८

प्रथम संस्करण :	५ हजार २००
२६ मई, १९९३ ई	
द्वितीय संस्करण·	५ हजार १००
२ सितम्बर, १९९३ ई	
वीतराग-विज्ञान के सपादकीयो के रूप मे	६ हजार
कुल	१६ हजार ३००

मूल्य . दस रुपये मात्र

टाइप सैटिंग
कॉम्प्रिन्ट
जयपुर

मुद्रक
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम आई रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

तीन माह के भीतर ही इस कृति का दूसरा सस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इसके मराठी और गुजराती अनुवाद भी तैयार हो रहे हैं। इस कृति के प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय मे हमने जो कुछ लिखा था, उसका महत्त्वपूर्ण अश इसप्रकार है :-

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत १७ वर्षों में डॉ हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखो के रूप मे जो भी लिखा है, वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अग्रेजी आदि अनेक भाषाओ मे उनके अनुवाद हो चुके है तथा अनेको बार प्रकाशित हो चुके है।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारहभावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम सम्मेद शिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य मे और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख है। इन सब कृतियो ने जैनसमाज एव हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं मे ३० लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होने अबतक लगभग ३ हजार पृष्ठ लिखे है, जो सभी प्रकाशित हैं।

आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयो पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हे सर्वांगरूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यातिमकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना

दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा, जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार स्वामीजी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविधप्रकार की महत्त्वाकाक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है ।

इधर कुछ दिनो से उन लोगो ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अबतक समसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिसतरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध है और वे समयसार के मर्म को खोलने मे पूर्णत: समर्थ हैं, पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनो के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमे भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच मे नही हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अत: वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ भारिल्ल के ही वश की बात है, क्योकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया, उससे व्यवस्थित वस्तुस्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शान्त हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे, अत: अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बाते ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बाते न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरंभ किया है, उससे न केवल मुमुक्षु समाज को लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप मे प्रकाशन आरभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियाये आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी; वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयो को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हे भी करते ही, पर लोगों को धैर्य नही था, वे अधिक प्रतीक्षा नही करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ मे देवलाली (महाराष्ट्र) मे लगनेवाले शिविर में डॉ भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयो के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवी गाथाये ली, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग जोर पकडने लगी। उम्मेदमलजी बडजात्या, बम्बई ने कहा कि जितनी भी सामग्री अभीतक तैयार है, उसकी एक हजार प्रतियाँ मेरी ओर से छपाकर वितरित कर दी जावे। और लोग भी इसीप्रकार का आग्रह करने लगे, पर उस समय इसपर हम कोई ध्यान न दे सके, किन्तु स्वामीजी की जयन्ती के अवसर पर जब देवलाली में ही २२ अप्रैल से २६ अप्रैल, १९९३ तक समयसार की १४वीं गाथा पर डॉ भारिल्ल के प्रवचन हुए तो इस माँग ने जोर पकड़ लिया। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके कर-कमलों में है।

डॉक्टर साहब का विचार था कि ६८ गाथाओ के जीवाजीवाधिकार के समाप्त होने पर उसे समयसार अनुशीलन भाग १ के रूप में एक साथ ही प्रकाशित किया जावे। उन्होने अपनी इस भावना को अनेक बार दुहराया भी, पर लोगों के अनुरोध को ध्यान मे रखते हुए हम यह २५ गाथाओं के अनुशीलन को समयसार अनुशीलन भाग १ के पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। उत्तरार्द्ध तैयार होने पर ६८ गाथाओं की सम्पूर्ण सामग्री को समयसार अनुशीलन भाग १ के रूप में यथासमय प्रकाशित करेंगे।

बहुत लोगों ने ऐसी भावमयी भावनायें व्यक्त कीं कि आप जबतक प्रकाशित करेंगे, तबतक हम रहें या न रहें ? अतः अभी जितना भी तैयार हो गया है, उतना ही प्रकाशित कर दें। उनकी भावना के सामने हमें झुकना पड़ा और प्रस्तुत कृति आपके समक्ष है।

गुरुदेव का तो अनन्त-उपकार हम सब पर है ही, क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सबकुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म समझने की दृष्टि भी दी है। डॉ भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हे इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने अपनी आँखों से देखा है, क्योकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है, वह अपने आप में अपूर्व है। मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा, मेरे विश्वास को उन पत्रो से बल मिला है, जो समय-समय पर हमे प्राप्त होते रहे है और जिन्हे वीतराग-विज्ञान मे यथासभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशो से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि ना केवल देश में, अपितु विदेशो में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है।

''वास्तव मे यह ग्रन्थ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी'' - बाहुबली कुभोज की विदुषी बहिन श्री गजा बैन की उक्त पक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होगी - ऐसा हमारा पक्का विश्वास है।

अत्यल्प समय में इतना सुन्दर व शुद्ध मुद्रण करने के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर को जितना धन्यवाद दिया जाय, कम है। सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति के भरपूर लाभ लें। इस मगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचन्द पाटनी

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१	परमभावप्रकाशक नयचक्र (हिन्दी, गुजराती)	११ ००
२	पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११ ००
३	समयसार अनुशीलन भाग-१ (पूर्वार्द्ध)	१० ००
४	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, अंग्रेजी)	७ ००
५	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड)	७ ००
६	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी)	६ ००
७	बारहभावना एक अनुशीलन	६ ००
८	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)	५ ००
९	गागर में सागर	५ ००
१०	वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५ ००
११	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५ ००
१२	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड)	४ ००
१३	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड)	३ ००
१४	निमित्तोपादान	२ ५०
१५	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)	२ ००
१६	अहिंसा महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी)	१ ५०
१७	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१ ५०
१८	चैतन्य चमत्कार	१ ५०
१९	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी)	१ ५०
२०	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१ २५
२१	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित) (हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती)	१ २५
२२	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१ २५
२३	तीर्थंकर भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती, म, क, त, अं, ते)	१ ००
२४	सार समयसार	१ २५
२५	विदेशों में जैन धर्म उभरते पदचिह्न	२ ००
२६	विदेशों में जैन धर्म बढ़ते कदम	१ ००
२७	विदेशों में जैन धर्म अध्यात्म की जगती जिज्ञासा	१ २५
२८	विदेशों में जैन धर्म धूम क्रमबद्धपर्याय की	२ ००
२९	आत्मा ही है शरण	३ ००
३०	समयसार पद्यानुवाद	१ ००
३१	शाकाहार जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१ ००
३२	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना (जेबी साइज)	० ५०
३३	अर्चना (जेबी साइज)	० ७५
३४	गोम्मटेश्वर बाहुबली	० ४०
३५	वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	० २५
३६	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हिन्दी, गुजराती, म, क, त, बं, अं)	१ ५०
३७	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हिन्दी, गुजराती, म, क, त, बं, अं)	१ ५०
३८	वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग-१, २, ३ (सेट) (हि, गु, म, क, अं)	६ ५०
३९	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, अंग्रेजी)	२ ५०
४०	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)	२ ५०

समयसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल छन्द)

समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य जो ।
आत्मख्याति का एकमात्र आराध्य जो ॥
अज अनादि अनिधन अविचल सद्भाव जो ।
त्रैकालिक ध्रुव सुखमय ज्ञायकभाव जो ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का है ज्ञेय जो ।
सत्श्रद्धा का एकमात्र श्रद्धेय जो ॥
परमध्यान का ध्येय उसे ही ध्याउँ मैं ।
उसे प्राप्त कर उसमें ही रम जाउँ मैं ॥

समयसार अरु आत्मख्याति के भाव को ।
जो कुछ जैसा समझा है मैंने प्रभो ॥
उसी भाव को सहज सरल शैली विषें ।
विविध पक्ष से जन-जन के हित रख रहा ॥
इसमें भी है एक स्वार्थ मेरा प्रभो ।
नित प्रति ही चित रहा करे इसमें विभो ॥
मेरे मन का हो ऐसा ही परिणमन ।
मन का ही अनुकरण करे हित-मित वयन ॥

अपनापन हो निज आतम में नित्य ही ।
अपना जानूँ निज आतम को नित्य ही ॥
रहे निरन्तर निज आतम में ही रमन ।
रहूँ निरन्तर निज आतम में ही मगन ॥
अन्य न कोई हो विकल्प हे आत्मन् !
निज आतम का ज्ञान ध्यान चिन्तन मनन ॥
गहराई से होय निरन्तर अध्ययन ।
निश-दिन ही बस रहे निरन्तर एक धुन ॥

समयसार अनुशीलन

पृष्ठभूमि

भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार जिनागम का अजोड रत्न है, सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर है । आचार्य अमृतचन्द्र इसे जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु कहते है और कहते है कि जगत मे इससे महान और कुछ भी नहीं है । 'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति'[1] 'इदमेक जगच्चक्षुरक्षय'[2] – आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त सूक्तियाँ समयसार की महिमा बताने के लिए पर्याप्त है ।

समयसार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वय लिखते है कि जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमे प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर उस आत्मवस्तु मे स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है, वह आत्मा उत्तम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है ।

यह ग्रन्थाधिराज अत्यन्त क्रान्तिकारी महाशास्त्र है । इसने लाखो लोगो के जीवन को अध्यात्ममय बनाया है, मत-परिवर्तन के लिए बाध्य किया है । कविवर पंडित बनारसीदासजी, श्रीमद् रायचन्द्रजी एव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को इसने ही आन्दोलित किया था । उक्त महापुरुषो के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित करने वाला यही ग्रन्थराज है ।

इसके सन्दर्भ मे श्री कानजीस्वामी कहते है कि यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखो शास्त्रो का सार इसमे है। यह जैनशासन का स्तम्भ है, साधको की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा

---

१ आत्मख्याति, कलश २४४

२ वही, २४५

छठवे-सातवें गुणस्थान मे झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव मे से निकली हुई है ।

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वो मे छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

समयसार के इस अनुशीलन मे समयसार की मूल गाथाओ के साथ-साथ आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक सस्कृत टीका को मुख्य आधार बनाया जायगा । आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीका, पाण्डे राजमलजी की कलश टीका, पडित बनारसीदासजी के नाटक समयसार एव पडित जयचदजी छाबडा की भाषा वचनिका का भी आवश्यकतानुसार यथास्थान उपयोग किया जायेगा । आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनो से भी लाभ उठाया जायेगा । इनके अतिरिक्त तत्सबधित अन्य उपलब्ध साहित्य का उपयोग भी नि सकोच किया जायेगा ।

इस अनुशीलन का एकमात्र उद्देश्य समयसार की मूल विषयवस्तु को अत्यन्त सरल भाषा व सुबोध शैली मे जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना है । साथ मे अपने उपयोग का सदुपयोग करना भी एक प्रयोजन है । मै नही चाहता कि जीवन की इस सान्ध्य बेला मे उपयोग यहाँ-वहाँ भटकता रहे । उसे त्रिकाली ध्रुव आत्मा का एक ऐसा सम्बल मिले कि उसे अन्यत्र भटकने का अवसर ही न रहे। बस, निरन्तर एक ही धुन रहे, वह भी भगवान आत्मा के चिन्तन, मनन, अध्ययन, पठन-पाठन, लेखन और अनुभवन की ही, क्योंकि मेरी दृढ आस्था है कि एकमात्र यही मार्ग है, सुखी होने का यही एकमात्र उपाय है ।

समयसार जैनियो की गीता है । इसमे ही उस मूल वस्तु का विवेचन है, जो आत्मसाधको का एकमात्र आधार है । समयसार के मूल प्रतिपाद्य का जन-जन तक पहुँचना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । यही विचार कर यह उपक्रम किया जा रहा है, इसके मूल मे अन्य कोई लौकिक कामना नहीं है ।

समयसार की आत्मख्याति टीका का मगलाचरण इसप्रकार है :—

(अनुष्टुभ)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।।१।।

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
सकलज्ञेय-ज्ञायक नमौं, समयसार सद्रूप ।।१।।

स्वानुभूति से प्रकाशित, चैतन्यस्वभावी, सर्वपदार्थों को जाननेवाले सत्तास्वरूप समयसार को नमस्कार हो ।

मगलाचरण के उक्त छन्द मे शुद्धात्मा को नमस्कार किया गया है । यहाँ समयसार का अर्थ शुद्धात्मा ही लिया गया है । समय शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र स्वय ही गाथा २ व ३ की टीका मे विस्तार से स्पष्ट करेगे । अत उसके सन्दर्भ मे विशेष चर्चा करना वहाँ ही ठीक रहेगा। यहाँ तो समय शब्द का सामान्य अर्थ आत्मा ही लेना है और सार शब्द का अर्थ है द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित । इसप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित आत्मा ही शुद्धात्मा है, समयसार है ।

उस शुद्धात्मा को जानना, पहिचानना, उसमे जमना-रमना, उसमे उपयोग का झुकना, नमना ही वास्तविक नमस्कार है ।

यहाँ जिस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को नमस्कार किया गया है, उसे चार विशेषणो से समझाया गया है —

(१) भावाय (२) चित्स्वभावाय (३) सर्वभावान्तरच्छिदे एव
(४) स्वानुभूत्या चकासते।

नम के योग मे चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने से समयसार को समयसाराय, भाव को भावाय एव चित्स्वभाव को चित्स्वभावाय के रूप मे रखा गया है। मूल शब्द भाव, चित्स्वभाव और समयसार ही हैं। इसीप्रकार स्वानुभूत्या चकासते एव सर्वभावान्तरच्छिदे के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए।

यहाँ उक्त चार विशेषणो से समयसार के द्रव्य, गुण और पर्याय स्वभाव को समझाया गया है । भाव कहकर द्रव्य, चित्स्वभाव कहकर गुण और सर्वभावान्तरच्छिदे तथा स्वानुभूत्या चकासते कहकर पर्याय स्वभाव को स्पष्ट किया गया है, क्योंकि मोह के नाश का उपाय द्रव्य-गुण-पर्याय से निज भगवान आत्मा को जानना ही है ।

प्रवचनसार की ८0वीं गाथा मे कहा गया है कि जो अरहत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी उसीप्रकार जानता है और उसका मोह नाँश को प्राप्त होता है ।

समयसार अर्थात् भगवान आत्मा भावस्वरूप है, सत्तारूप है, अस्तित्वरूप है, सत् है, और सत् द्रव्य का लक्षण है । जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र मे कहा गया है –

"सद् द्रव्यलक्षणम्[१]=द्रव्य का लक्षण सत् है ।"

इसप्रकार 'भाव' विशेषण के माध्यम से सर्वप्रथम भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को बताया गया है, उसके अस्तित्व की स्थापना की है, क्योंकि जगत मे जिसका अस्तित्व ही न हो, उसका गुणानुवाद बध्यासुतविवाहवर्णन के समान ही काल्पनिक सिद्ध होगा।

छह द्रव्यो के समूह का नाम ही लोक है । इस लोक मे छह द्रव्यो के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है । यदि भगवान आत्मा का द्रव्यत्व ही सिद्ध न हो तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध न होगा और अस्तित्व सिद्ध हुए बिना उसकी चर्चा ही सम्भव नहीं है । अत उसकी चर्चा आरम्भ करने के पहले उसके अस्तित्व को सिद्ध करना आवश्यक ही है । यही कारण है कि मगलाचरण मे सर्वप्रथम भगवान आत्मा के अस्तित्व की स्थापना की गई है । इसके माध्यम से आत्मा का अस्तित्व ही न माननेवाले नास्तिकों के मत का निराकरण भी सहजभाव से हो गया है ।

---

१ आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५ सूत्र २९

'वह सत्तास्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यभावी है' — ऐसा कहकर भगवान आत्मा के स्वभाव को स्पष्ट किया गया है । वह भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुणो का अखण्ड पिण्ड है — यह कहने से भगवान आत्मा को सर्वथा निर्गुण माननेवालों का तो निराकरण हो ही गया, साथ में उस भगवान आत्मा की पहिचान का चिन्ह भी स्पष्ट हो गया ।

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई कि भगवान आत्मा जानने-देखने के स्वभाव वाला है । जानना-देखना उसका सहज स्वभाव है, असाधारण भाव है, जो आत्माओं मे ही पाया जाता है, जीवद्रव्य में ही पाया जाता है, पुद्गलादि अजीव द्रव्यों मे नही । इसीकारण यह चित्स्वभाव, भगवान आत्मा का लक्षण है, पहिचान का चिन्ह है । इसके माध्यम से भगवान आत्मा को अजीवादि परद्रव्यो मे भिन्न जाना जा सकता है ।

तत्त्वार्थसूत्र मे ज्ञान-दर्शन उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा गया है।[१] जानना-देखना जीव का स्वभाव है । जानने-देखने को ही चेतना कहते है, इसीकारण यहाँ चित्स्वभाव शब्द का प्रयोग किया गया है ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जानना-देखना जीव का स्वभाव तो है, पर वह किसको जानता-देखता है अथवा किसको जानना-देखना उसका स्वभाव है ?

इसी के उत्तर मे कहा गया है कि भगवान आत्मा सब पदार्थों को जानने-देखने के स्वभाव वाला है, वह सर्वज्ञस्वभावी है । आत्मख्याति के परिशिष्ट मे जिन ४७ शक्तियो का निरूपण है, उसमे सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियो का भी निरूपण है ।

यद्यपि यह पर्याय की बात लगती है, क्योंकि जानने-देखने की क्रिया तो पर्याय मे ही होती है, तथापि यह पर्यायस्वभाव की बात है, प्रगट पर्याय की बात नही, सर्वज्ञता की बात नही, सर्वज्ञस्वभाव की बात है । यहाँ

---

१ आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र ८

जिस समयसाररूप भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है, वह सर्वज्ञपर्याय सहित भगवान आत्मा की बात नहीं है, अपितु सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात है ।

यहाँ सर्वज्ञस्वभाव की बात करके सर्वज्ञाभाववादियों का निराकरण भी कर दिया गया है ।

यहाँ एक प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि ऐसा भगवान आत्मा जाना जा सकता है या नहीं ? सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो जाना ही जाता है, यहाँ उनके जानने की बात नहीं है । यहाँ तो यह बात है कि हम उसे जान सकते हैं या नहीं ?

यदि हम उसे जान सकते हैं तो किसप्रकार ?

इसके उत्तर मे कहा गया है कि 'स्वानुभूत्या चकासते' । तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा स्वनुभूति के द्वारा जाना जाता है ।

इस कथन से उन लोगो का निराकरण हो गया, जो ऐसा मानते हैं कि भगवान आत्मा जाना ही नही जा सकता है । उन लोगों का भी निराकरण हो गया, जो स्वानुभूति के अतिरिक्त अन्य उपायों से भगवान आत्मा को जानना मानते है या जानना चाहते है । तात्पर्य यह कि भगवान आत्मा व्रत-उपवासादि क्रियाकाण्ड से पकडने में आने वाला नहीं है, कोरी बातो से भी कार्य होनेवाला नहीं है । देव-शास्त्र-गुरु भी हमे आत्मा की बात बता तो सकते हैं, पर वे आत्मा का अनुभव नहीं करा सकते, आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते । आत्मा का दर्शन तो स्वानुभूति के माध्यम से स्वय ही करना होगा ।

भगवान आत्मा स्वानुभवगम्य है । तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रियगम्य नहीं है, अनुमानगम्य भी नहीं है । ४९वीं गाथा में इसे और अधिक विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा, अत यहाँ अधिक विस्तार से चर्चा करना अभीष्ट नहीं है, पर यहाँ इतना निश्चित है कि यह अतीन्द्रिय महापदार्थ, अतीन्द्रिय निर्विकल्प अनुभवज्ञान का ही विषय है ।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि मै उस समयसाररूप शुद्धात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो सत्तास्वरूप है, चैतन्यस्वभावी है, सर्वदर्शी एव सर्वज्ञत्वादि शक्तियों से सम्पन्न है और स्वानुभूति द्वारा प्रकाशित होता है ।

वस्तुत नमने योग्य, ज्ञान का ज्ञेय बनाने योग्य, ध्यान का ध्येय बनाने योग्य तो एकमात्र दृष्टि का विषय त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही है; क्योंकि उसके आश्रय से मुक्तिमार्ग प्रगट होता है । यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस ग्रन्थाधिराज की टीका आरंभ करने के पूर्व मगलाचरण के रूप मे उसे ही स्मरण करते है, नमन करते है ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि मगलाचरण मे तो इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है । यहाँ इष्टदेव को नमस्कार न करके समयसार को नमस्कार क्यो किया गया है ?

समयसाररूप निज भगवान आत्मा ही हम सभी को परम इष्ट है, क्योंकि उसी की आराधना से हम सबका कल्याण होनेवाला है । वह भगवान आत्मा ही स्वय देवाधिदेव है, क्योंकि जितने आत्मा आजतक अरहत और सिद्धरूप देव बने है, वे इस समयसाररूप भगवान आत्मा की आराधना करके ही बने है ।

यदि पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो सर्वज्ञपर्याय से सयुक्त अरहंत और सिद्ध भगवान ही समयसार हैं । तथा समयसार नामक ग्रन्थ शास्त्र तो हे ही और उसके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव है । इसप्रकार समयसार शब्द से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का भी स्मरण हो गया ।

समयसार ग्रन्थ की टीका के आरम्भ मे समयसार शब्द के माध्यम से त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा एव देव-शास्त्र-गुरु का स्मरण करना आचार्य अमृतचन्द्र की अपनी विशेषता है । इसप्रकार का प्रयोग अष्टसहस्री के मगलाचरण मे भी हुआ है, जहाँ श्रीवर्द्धमान और समन्तभद्र शब्दो का प्रयोग व्यक्तियो के नाम के अर्थ मे भी हुआ है और चौबीसो तीर्थंकरो के विशेषणो के रूप मे भी हुआ है ।

'केवलज्ञानरूपी श्री से वर्द्धमान (श्रीवर्द्धमान) और चारों ओर से भद्र (समन्तभद्र) चौबीसो ही तीर्थंकरो को नमस्कार करके'[1] इत्यादि कथन द्वारा आचार्य विद्यानदी चौबीसो तीर्थकरो, अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर और आप्तमीमासा के कर्त्ता आचार्य समन्तभद्र को एक ही छन्द में स्मरण करते हैं, क्योंकि उनकी अष्टसहस्री कृति का आधार समन्तभद्र की आप्तमीमासा ही है ।

उसीप्रकार त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की टीका आरम्भ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार ग्रथाधिराज, उसके प्रतिपाद्य भगवान आत्मा एव उसके कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द के रूप मे देव-शास्त्र-गुरु को 'समयसार' शब्द से एक साथ ही स्मरण करें तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है ?

इसप्रकार देवाधिदेव के रूप मे समयसाररूप भगवान आत्मा एव देव-शास्त्र-गुरु का स्मरण कर आचार्य अमृतचन्द्रदेव अब अनेकान्तमयी जिनवाणी नित्य प्रकाशित रहे, भव्य जीवो को मुक्ति का मार्ग दिखाती रहे— ऐसी मगल कामना करते हुए दूसरा कलश लिखते है, जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥२॥

परपदार्थों, उनके गुण-पर्यायरूप भावों एव परपदार्थों के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथचित् भिन्न एकाकार अनन्तधर्मात्मक निज आत्मतत्त्व को देखनेवाली, जाननेवाली, प्रकाशित करनेवाली, अनेकान्तमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशित रहे, जयवत वर्ते ।

---

१ श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्यसमन्तभद्र ।

इस छन्द के भावार्थ में पंडित जयचंजी छाबडा लिखते हैं :—

"यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचन रूप से नमस्कार किया है । लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह यथार्थ नहीं है, इसलिए यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है । सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है । उसमें भी सम्पूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमे समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं । वह अनन्तधर्म सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए वह सरस्वती की मूर्ति है और उसी के अनुसार जो श्रुतज्ञान है, वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिए वह भी सरस्वती की मूर्ति है और द्रव्यश्रुत वचनरूप है वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनो द्वारा अनेक धर्मवाले आत्मा को बतलाती है ।

इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है । इसीलिए सरस्वती के वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत से नाम कहे जाते है ।

यह सरस्वती की मूर्ति अनन्त धर्मों को 'स्यात्' पद से एक धर्मी मे अविरोध रूप से साधती है, इसलिए सत्यार्थ है । कितने ही अन्यवादी जन सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा स्थापित करते है, किन्तु वह पदार्थ को सत्यार्थ कहनेवाली नही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा को अनन्त धर्मवाला कहा है, सो उसमे वे अनन्त धर्म कौन-कौन से हैं ?

उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तु मे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, इत्यादि धर्म तो गुण है और उन गुणों का तीनो काल मे समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं ।

और वस्तु मे एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेदत्व-अभेदत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं । वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर है, किन्तु अन्य विशेषरूप अनत धर्म भी हैं, जो कि वचन के विषय नही

हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं । आत्मा भी वस्तु है, इसलिए उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं ।

आत्मा के अनन्तधर्मों मे चेतनत्व असाधारण धर्म है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों मे नहीं है । सजातीय जीव द्रव्य अनंत हैं, उनमे भी यद्यपि चेतनत्व है, तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूप से भिन्न-भिन्न कहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशभेद होने से वह किसी का किसी में नहीं मिलता ।

वह चेतनत्व अपने अनन्तधर्मों मे व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्त्व कहा है । उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है । इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियो का कल्याण होता है, इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा है ।"

पण्डित जयचदजी छाबडा के उक्त कथन से पाण्डे राजमलजी के कथन की तुलना करते हुए श्री कानजीस्वामी कहते हैं :—

"पण्डित जयचदजी छाबडा 'सरस्वती' शब्द मे श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और वाणी — इन तीनों को गर्भित कर लेते हैं, जबकि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी अकेली वाणी को ही लेते हैं ।

यही तो वीतराग का अनेकान्त मार्ग है, जिस अपेक्षा कथन करना हो, वही लागू पड जाती है ।[१]

'पश्यन्ती' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने अनुभवनशील लिया है तथा अनुभवनशील का भाव यह बताया है कि वाणी सर्वज्ञानुसारिणी है अर्थात् उसका स्वभाव सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार परिणमित होने का है । पंडित जयचदजी ने पश्यन्ती का अर्थ ऐसा किया है कि भावश्रुतज्ञान आत्मा को परोक्ष देखता है, केवलज्ञान आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है और दिव्यध्वनि आत्मा को दिखाती है ।[२]

यहाँ कोई वितर्क करे कि वाणी तो अचेतन है, उसे नमस्कार क्यों किया ?

---

१ प्रवचनरत्नाकर, भाग १ पृष्ठ १८

२ वही, भाग १ पृष्ठ १९

इसका उत्तर कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने ऐसा दिया है कि वाणी सर्वज्ञानुसारिणी है । इसके सिवाय जीवादि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान कराने मे वाणी निमित्त है । इसलिए वाणी के भी पूज्यपना है ।[१]"

सर्व परवस्तुओ से भिन्न, नैमित्तिक परभावो से भिन्न व अपने ही स्वरूप मे तन्मय आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है ।[२] यहाँ अनेकान्तमयी सरस्वती को उक्त प्रत्यगात्मा की प्रतिपादक कहा गया है और उसके नित्य प्रकाशित रहने की कामना की गई है । तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मारूप निज भगवान आत्मा की चर्चा-वार्ता, उसके स्वरूप का प्रतिपादन निरन्तर होते रहना चाहिए; क्योंकि इस प्रत्यगात्मा के स्वरूप की देशना ही आत्मार्थी जीवो को मुक्तिमार्ग मे लगाने मे निमित्त होती है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे देशनालब्धि का होना भी अनिवार्य है । उस देशनालब्धि का साधन सदा उपलब्ध रहे – यही भावना व्यक्त हुई है इस आशीर्वादरूप जिनवाणी की वदना मे ।

वैसे तो विद्यमान बीस तीर्थंकरो के माध्यम से अढाई द्वीप मे निरन्तर ही इसप्रकार की देशना उपलब्ध रहती है, अत. अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य प्रकाशित ही है, तथापि हम-तुम जैसे भव्यजीवो को भी प्रत्यगात्मा का उपदेश निरन्तर प्राप्त रहे, वह प्रत्यगात्मा हमारे ज्ञान का ज्ञेय निरन्तर बना रहे – यही मगल आशीर्वाद दिया है आचार्यदेव ने हम सबको ।

शुद्धात्मा की प्रतिपादक जिनवाणी-गगा का प्रवाह इस लोक मे अविरल प्रवाहित होता रहे – इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होने आत्मख्याति टीका लिखने का उपक्रम किया है, जिनवाणी-गगा के अविरल प्रवाह मे अपना योगदान दिया है । हम सभी का भी पावन कर्तव्य है कि आत्मकल्याण के प्रयास के साथ-साथ जिनवाणी-गगा के प्रवाह मे यथाशक्ति तन-मन-धन से योगदान करते रहे ।

---

१ प्रवचनरत्नाकर, भाग १ पृष्ठ १९-२०

२ समयसार, सप्तदशांगी टीका, पृष्ठ ३-४

वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की शुद्धात्मा की प्रतिपादक वीतरागवाणी हम सभी को निरन्तर प्राप्त रहे – इस मगल कामना के बाद अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस आत्मख्याति टीका के प्रणयन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा–
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते–
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ।
परमविशुद्धी को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से॥३॥

यद्यपि मै तो शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति भगवान आत्मा हूँ, तथापि परपरिणति का मूल कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके उदय का निमित्त पाकर मेरी परिणति वर्तमान मे मैली हो रही है, कल्माषित हो रही है । समयसार की इस आत्मख्याति नामक व्याख्या से, टीका से मेरी वह परिणति परमविशुद्धि को प्राप्त हो । यही मेरी मगल भावना है ।

आचार्यदेव की परिणति तीन कषाय का अभाव होने से विशुद्ध तो है ही, पर अभी ऐसी परमविशुद्धि नही है कि जिसके फल मे केवलज्ञान की प्राप्ति हो, अभी सज्वलन कषाय सम्बन्धी मलिनता विद्यमान है । यही कारण है कि वे विशुद्धि की नही, परमविशुद्धि की कामना करते हैं । अन्य किसी भी प्रकार की लौकिक कामना आचार्यदेव के हृदय में नही है, जिसकी प्रेरणा से वे यह टीका लिखने को उद्यत हुए हों । उनकी तो एकमात्र यही कामना है कि जब उनका उपयोग शुभभाव मे रहे, तब वे एकमात्र समयसार की विषयवस्तु का ही चिन्तन-मनन करते रहें ।

इस छन्द मे प्रकारान्तर से आचार्यदेव ने समयसार की व्याख्या लिखने का संकल्प भी व्यक्त किया है, प्रतिज्ञा भी की है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मेरा अपनापन तो अन्तर मे विराजमान शुद्धतत्त्व में ही है । इसीलिए वे जोर देकर कहते हैं कि मैं तो शुद्धचैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, मुझमे तो कुछ विकृति है ही नहीं । हाँ, पर्याय मे पर्यायगत योग्यता के कारण एव मोहोदय के निमित्त से कुछ मलिनता है, वह भी इस समयसार की व्याख्या से समाप्त हो जावे, क्योकि व्याख्या के काल मे मेरा जोर तो त्रिकाली स्वभाव पर ही रहना है ।

आचार्यदेव के हृदय मे कोई पापभावरूप मलिनता तो है नहीं, यही टीका लिखने, उपदेश देने आदि शुभभावरूप मलिनता ही है और वे उसका ही नाश चाहते हैं । तथा वे अच्छी तरह जानते हैं कि टीका करने के भाव से, टीका करने के भावरूप मलिनता समाप्त नही होगी । पर वे यह भी जानते हैं कि अन्तर मे तीन कषाय के अभावरूप निर्मलता है, मिथ्यात्व के अभाव से पर मे से अपनापन टूट गया है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा मे ही अपनापन आ गया है, उसके बल से, आत्मा की रुचि की तीव्रता से, निश्चित ही इस विकल्प का भी नाश होगा और शुद्धोपयोग मे उपयोग चला जायगा ।

दूसरे कलश मे उन्होने यह भावना व्यक्त की थी कि जिनवाणी का प्रवाह निरन्तर चलता रहे, जिनवाणी नित्य ही प्रकाशित रहे । यह भावना तो उत्तम है, पर शुद्धोपयोग रूप तो नही है । बस आचार्यदेव को तो यही मलिनता भासित होती है और मानो उसके नाश के लिए शुद्धात्मा के जोरवाले शास्त्र की टीका लिखने का भाव उन्हें आया है ।

प्रकारान्तर से आचार्यदेव यह भी बताना चाहते हैं कि समयसार का पढ़ना-पढाना, लिखना-लिखाना, उसकी टीका करना, गहराई से अध्ययन करना, मनन करना, उसकी विषयवस्तु का परिचय प्राप्त करना, घोलन करना परमविशुद्धि का कारण है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश के माध्यम से स्वय की वर्तमान पर्याय की स्थिति का ज्ञान भी कराना चाहते हैं और जिनवाणी के अध्ययन-मनन करने की, स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी देना चाहते हैं । अत मानो वे कह रहे हैं कि हे भव्यजीवों । तुम इसका अध्ययन करो, मनन करो, पठन-पाठन करो, इसकी विषयवस्तु को जन-जन तक पहुँचाओ, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा । •

रुचि अनुयायीवीर्य

हमे आध्यात्मिक ग्रथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है । ऐसे बहुत कम लोग होगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो । साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नही सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है ? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति मे कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नही छोडा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं । क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं जितनी विषय-कषाय में है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वही लगती है, जहाँ रुचि होती है । स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमे आध्यात्मिक साहित्य में अनन्यरुचि जागृत करनी होगी ।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११

समयसार गाथा १

आत्मख्याति के मंगलाचरण के बाद अब आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की मूल गाथाएँ आरम्भ होती हैं । सर्वप्रथम मगलाचरण की गाथा है । उसकी उत्थानिका लिखते हुए आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है कि '**अथ सूत्रावतार** – अब सूत्र का अवतार होता है ।' आचार्य अमृतचन्द्र के हृदय मे समयसार की कितनी महिमा है – यह बात उनके इस कथन मे झलकती है ।

लोक मे 'अवतार' शब्द बहुत महिमावंत शब्द है । यह शब्द लोककल्याण के लिए भगवान के अवतरण के अर्थ मे प्रयुक्त होता है । यहाँ समयसार की मूल गाथाओ के लिए उक्त शब्द का प्रयोग करके आचार्य अमृतचन्द्र उन गाथाओ के लोककल्याणकारी स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते है । तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द की इन गाथाओ मे लोक के परमकल्याण की बात ही आने वाली है ।

समयसार के मगलाचरण की मूल गाथा इसप्रकार है –

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्वपर हित ।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥१॥

मै ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हुए सभी सिद्धो को नमस्कार कर श्रुतकेवलियो द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा ।

इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धो को नमस्कार करके श्रुतकेवलियो द्वारा कथित समयसार नामक ग्रथाधिराज बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति मे इसप्रकार व्यक्त करते हैं :—

"यह पंचमगति (सिद्धदशा) स्वभाव के आलम्बन से उत्पन्न हुई होने से ध्रुव है, अनादिकालीन परिभ्रमण का अभाव हो जाने से अचल है और उपमा देने योग्य जगत के सम्पूर्ण पदार्थों से विलक्षण होने एव अद्भुत महिमा की धारक होने से अनुपम है ।

धर्म, अर्थ और काम — इस त्रिवर्ग से भिन्न होने के कारण अपवर्ग है नाम जिसका, ऐसी पंचमगति को प्राप्त सर्वसिद्धो को, जो मेरे आत्मा की साध्यदशा के स्थान पर हैं अर्थात् जैसा मुझे बनना है, जो मेरा आदर्श है, उसके स्थान पर है, उन सर्वसिद्धों को भावस्तुति और द्रव्यस्तुति के माध्यम से अपने और पर के आत्मा मे स्थापित करके, सर्वपदार्थों को साक्षात् जाननेवाले केवलियों द्वारा प्रणीत, अनादिनिधन श्रुत द्वारा प्रकाशित, स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियों द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त; सर्वपदार्थों या शुद्धात्मा का प्रकाशक एव अरहंत भगवान के प्रवचनों का अवयव है जो — ऐसे इस समयसार नामक ग्रन्थ का अपने और पराये अनादिकालीन मोह के नाश के लिए भाववचन और द्रव्यवचन के माध्यम से परिभाषण आरम्भ किया जाता है ।"

चारो ही गतियाँ परपदार्थों के अवलम्बन से उत्पन्न होती हैं, इसकारण अध्रुव हैं, विनाशीक है, पर पचमगति सिद्धदशा स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है, अत ध्रुव है, अविनाशी है, सदा एक-सी रहनेवाली है ।

यद्यपि परिवर्तन तो सिद्धदशा मे भी होता है, पर वह परिवर्तन सदा एक-सा ही होता है, सुखरूप ही होता है, इसकारण इसे ध्रुव कहा है । सदा एकरूप ही रहनेवाले ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होने के कारण सिद्धदशा सदा एक-से आनन्दरूप ही रहती है, शान्तिरूप ही रहती है । पर अनेक रूप धारण करनेवाले परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण चारो गतियों रूप ससार दशा सासारिक दु ख-सुखरूप होती रहती है, बदलती

रहती है । सासारिक सुख भी दुखरूप ही है, तथा दु:खो का रूप भी बदलता रहता है । इसकारण ससार दशा अध्रुव है, चारो गतियाँ अध्रुव हैं ।

ध्रुवस्वभाव अलग है और ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय अलग है । ध्रुवस्वभाव तो सदा एकरूप ही रहता है, परन्तु ध्रुवस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय सदा एकरूप नही रहती, किन्तु एक-सी रहती है । स्वभाव की ध्रुवता एकरूप रहना है और पर्याय की ध्रुवता एक-सी रहना है । यहाँ पर्याय की ध्रुवता की बात है ।

त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को अनुभूतिपूर्वक जानना, निज जानना और उसमे ही अपनापन स्थापित होना, उसका ही ध्यान करना, उसमे ही लीन हो जाना ही ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन है, आश्रय है । इसप्रकार के अवलम्बन से ही ध्रुवपर्याय प्रगट होती है, सिद्धदशा प्रगट होती है ।

अनादिकाल से इस आत्मा ने निज भगवान आत्मा को तो कभी जाना ही नही, मात्र परपदार्थों, उनके भावो और उनके निमित्त से अपने आत्मा मे उत्पन्न होनेवाली विकारी पर्यायो को ही जाना-माना है, उनमे ही अपनापन स्थापित किया है और उनका ही ध्यान किया है, तथा यह आत्मा उनमे ही रचा-पचा रहा है ।

बस यही पर का आलम्बन है, पर का आश्रय है और इससे ही अनन्त दुख है । पचमगति मे पर का अवलम्बन छूट गया है, एकमात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का अवलम्बन रह गया है, यही कारण है कि सिद्धदशा सुखमयदशा है, शान्तिमयदशा है, ध्रुवदशा है ।

अनादिकाल से यह भगवान आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण कर रहा है । परभावो के निमित्त से होनेवाले इस परिभ्रमण के रुक जाने से पचमगति अचलता को प्राप्त हो गई है ।

चारो ही गतियाँ दुखमय है और यह पचमगति सुखमय है । जगत मे कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिससे इसकी उपमा दी जा सके, क्योंकि

जगत मे जितने भी पदार्थ उपमा देने योग्य है, यह पचमगति उन सबसे विलक्षण है, अद्‌भुत महिमावाली है, इसीकारण इसे अनुपम कहा गया है।

ध्रुव विशेषण से विनाशीकपने का, अचल विशेषण से परिभ्रमण का एव अनुपम विशेषण से चारो गतियो मे पाई जानी वाली कथचित् समानता का निषेध—व्यवच्छेद इस पचमगति में हो गया ।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृति नामक टीका मे अचल के स्थान पर पाठान्तर के रूप मे अमल पद भी दिया है और अचल पद के साथ-साथ अमल पद की भी व्याख्या दी है, जो इसप्रकार है —

"भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूपी मल से रहित एव शुद्धस्वभाव सहित होने से पचमगति अमल है ।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थो मे से धर्म, अर्थ और काम—इनको त्रिवर्ग कहते है । इन तीनो से भिन्न होने से, विलक्षण होने से मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। इस अविनाशी, अविचल, अमल, अनुपम और अपवर्ग गति को प्राप्त सभी सिद्ध परमात्माओ को नमस्कार कर आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस समयप्राभृत शास्त्र को रचने की प्रतिज्ञा करते है।

सर्वसिद्धो को नमस्कार करने के हेतु को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अमृतचन्द्र कहते है कि 'वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है ।' इसी को स्पष्ट करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबडा लिखते है कि 'जिनके स्वरूप का ससारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्ही के समान हो जाते हैं और चारो गतियो से विलक्षण पचमगति को प्राप्त करते है ।'

प्रवचनसार की ८0वी गाथा मे कहा गया है कि 'जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानते है, वे अपने आत्मा को जानते हैं, और उससे उनका मोह नाश को प्राप्त होता है।' यहाँ भी यही बात कही जा रही है कि 'सिद्धों के स्वरूप का चिन्तवन कर, उन्हीं के समान अपने रूप को ध्याकर, ससारी जन उन्हीं के समान हो जाते हैं ।'

जो सिद्धपद हमारे लिए साध्य है, वह सिद्धपद जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध भगवान हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हमे उन जैसा ही बनना है।

यहाँ उन्हीं सिद्ध भगवान को द्रव्य व भाव स्तुति के माध्यम से स्वयं के व पाठकों के आत्मा में स्थापित करके इस समयसार ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा की गई है ।

द्रव्यस्तुति और भावस्तुति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मै भिन्न हूँ, इसप्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हटकर अतरंग मे स्थिर होना सो भावस्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है ।[१]

'मै पूर्ण ज्ञानघन एव स्वभाव से निर्मल हूँ' – ऐसे भावसहित रागादि को विस्मरण करके रागरहित भगवान आत्मा को अपने लक्ष में लेकर अंतरंग मे स्थिर होना सो अंतरंग एकाग्रता अर्थात् भाववंदना है । शुभलक्षी भक्तिभाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्यवंदना है ?[२]"

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में 'वंदित्तु' पद की व्याख्या इसप्रकार की है –

"निश्चयनय से अपने मे ही आराध्य-आराधक भाव होने से निर्विकल्पसमाधि है लक्षण जिसका – ऐसे भावनमस्कार द्वारा एव व्यवहार से वचनात्मक द्रव्यनमस्कार के द्वारा वदना करके ।"

आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र एव जयसेन सभी छठवे-सातवे गुणस्थान की भूमिका मे झूलने वाले भावलिगी सन्त थे । छठवे गुणस्थान का उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है । इसकारण वे हर अन्तर्मुहूर्त मे सातवे गुणस्थान मे जाते ही थे । यही उनके द्वारा किया गया भावनमस्कार है,

---

१ समयसार प्रवचन प्रथम भाग पृष्ठ २९

२ वही, पृष्ठ ३३

भावस्तुति है और इस गाथा मे जो शब्दों मे नमस्कार किया गया है, वही द्रव्यनमस्कार है, द्रव्यस्तुति है ।

उक्त भावस्तुति और द्रव्यस्तुति के माध्यम से ही आचार्यदेव अपने और पाठको के आत्मा मे सिद्धो की स्थापना करना चाहते हैं । वे इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन सिद्धो की साक्षीपूर्वक करना चाहते हैं और पाठको से भी अपेक्षा रखते है कि वे भी अपने हृदय मे सिद्धो की स्थापना करके इस ग्रथाधिराज का स्वाध्याय करे ।

जगत मे भी जब कोई महान काम किया जाता है तो लोकमान्य पुरुषो को साक्षी बनाकर ही किया जाता है । शादी जैसे कार्य को भी लोग देव-शास्त्र-गुरु की परोक्ष साक्षी और पचो की प्रत्यक्ष साक्षी पूर्वक करते है। यही कारण है कि आत्महितकारी इस महान ग्रन्थाधिराज के प्रणयन मे आचार्यदेव सर्वसिद्धो को साक्षी बनाना चाहते है ।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो' की सूक्ति के अनुसार सभी आत्मा सिद्ध समान तो है ही और प्रत्येक आत्मार्थी का अन्तिम साध्य भी सिद्ध दशा ही है। यही कारण है कि इस परम मगलमय प्रसग पर वे अपने और पाठको के आत्मा मे सिद्धत्व की स्थापना करके इस महान कार्य का आरम्भ करते है ।

'श्रुतकेवली' शब्द की व्युत्पत्ति आचार्य जयसेन इसप्रकार करते है –

"श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणित श्रुतकेवलिभणित अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति ।"

श्रुते माने परमागम मे जो केवलियो – सर्वज्ञो ने कहा है, उसे ही श्रुतकेवलिभणित कहते हैं । इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो 'सुदकेवलीभणिद' पद का अर्थ 'सर्वज्ञदेव द्वारा परमागम मे कहा गया' यह ही होता है। दूसरे सभी गणधर द्वादशाग के पाठी होते हैं, अत श्रुतकेवली होते हैं । वस्तुत. गणधरदेव ही तो द्वादशाग रूप सर्वश्रुत की रचना करते हैं। इसकारण दूसरे अर्थ मे आचार्य जयसेन द्वारा 'गणधरदेव द्वारा कथित' अर्थ लिया गया है।

तात्पर्य यह है कि यह परमागम शास्त्र सर्वज्ञो और गणधरो की वाणी के अनुसार ही लिखा गया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इसे और भी अधिक विस्तार देते है। वे कहते है –

"सर्वपदार्थों को साक्षात् जाननेवाले केवलियो द्वारा प्रणीत, अनादिनिधन श्रुत द्वारा प्रकाशित, स्वय अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियो द्वारा कथित, सर्वपदार्थो और शुद्धात्मा का प्रकाशक, अरहत भगवान के प्रवचनो का अवयव – यह समयसार नामक ग्रन्थ मेरे द्वारा आरम्भ किया जाता है ।"

श्रुतकेवली शब्द मे जयसेन ने अकेले गणधरदेव ही लिए है, जबकि अमृतचन्द्र ने सभी श्रुतकेवली ले लिए है, अत उसमे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक की सपूर्ण परम्परा आ जाती है ।

उक्त सम्पूर्ण कथन ग्रन्थ की प्रामाणिकता को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है । आचार्यदेव कहते है कि मै अपनी ओर से कुछ भी कहने वाला नहीं हूँ । इस समयसार मे मै जो कुछ भी कहूँगा, वह सब वस्तुस्वरूप के अनुरूप तो होगा ही, सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि के अनुसार भी होगा, गणधरदेव रचित द्वादशाग के अनुसार भी होगा, शुद्धात्मा और सम्पूर्ण पदार्थो के सही स्वरूप को प्रकाशित करने वाला ही होगा ।

यह काम मै स्व-पर के कल्याण के लिए ही कर रहा हूँ । वह स्व-पर का कल्याण भी कोई लौकिक प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला नही है अर्थात् अनादिकालीन मोह के नाश के लिए ही यह उपक्रम है ।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि शिष्यो के तो अनादिकालीन दर्शनमोह और चारित्रमोह का होना सम्भव हो सकता है, पर आचार्यदेव तो मोहरहित ही है, वे तो वीतरागी भावलिगी सत है, उनके मोह का होना कैसे सम्भव है? जिसके नाश के लिए वे यह उपक्रम कर रहे हैं ।

भाई, आचार्यदेव भी अभी पूरी तरह निर्मोही कहाँ हुए हैं ? हो गये होते तो वे वीतरागी-सर्वज्ञ हो गये होते, उनके भी सज्वलन सम्बन्धी चारित्रमोह

विद्यमान है । अत यहाँ जिसके जितना और जिसप्रकार का मोह है, उसे ही लेना चाहिए । मिथ्यादृष्टि जीवो के दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनो प्रकार के मोह के नाश की बात लेनी चाहिए, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टियो के मात्र चारित्रमोह की बात लेनी चाहिए, इसीप्रकार पंचमगुणस्थान वालो के शेष दो कषायरूप चारित्रमोह की बात लेनी चाहिए और मुनिराजो के मात्र सज्वलन कषाय के नाश की बात लेनी चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने मगलाचरण के तीसरे छन्द मे इस ग्रन्थ की टीका करने से अपने चित्त की परमविशुद्धि की कामना ही की है । वही बात वे यहाँ टीका मे आचार्य कुन्दकुन्द की ओर से कह रहे है ।

भाई, देखो तो आचार्यदेव कह रहे है कि यह शास्त्र अरहत भगवान के प्रवचनो का अवयव है, भगवान की दिव्यध्वनि का अश है । यह कोई साधारण पुस्तक नही है, यह तो केवली भगवान की वाणी का अवयव है, अश है । अत इसे केवली भगवान की वाणी के समान आदर देकर ही पढना चाहिए । जब ऐसा करोगे, तभी इसके स्वाध्याय से पूरा लाभ प्राप्त होगा ।

अन्त मे आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है कि भाववचन और द्रव्यवचन से इसका परिभाषण आरभ किया जाता है ।

भाववचन और द्रव्यवचन को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते है –

"आचार्यदेव कहते है कि मेरी ज्ञानपर्याय भाववचन है और विकल्पपूर्वक जो वाणी निकलती है, वह द्रव्यवचन है । ज्ञानपर्याय मे प्रतिसमय वृद्धि होती है और शब्द की रचना शब्द के कारण होती है । यहाँ दोनो का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है ।[१]"

'वोच्छामि' शब्द का अर्थ हिन्दी वचनिकाकार पण्डित जयचदजी छाबडा इसी गाथा के भावार्थ मे इसप्रकार करते हैं –

---

१ आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर १९७६, पृष्ठ १८

"गाथा सूत्र मे आचार्यदेव ने 'वक्ष्यामि' कहा है । उसका अर्थ टीकाकार ने 'वच परिभाषणे' धातु से परिभाषण किया है । उसका आशय इसप्रकार सूचित होता है कि – चौदह पूर्वो मे से ज्ञानप्रवाद नामक पाचवे पूर्व मे बारह वस्तु अधिकार हैं, उनमे भी एक-एक के बीस-बीस प्राभृत अधिकार है । उनमे से दसवे वस्तु मे समय नामक जो प्राभृत है, उसके मूल सूत्रो के शब्दो का ज्ञान पहले बडे आचार्यो को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यो की परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव को भी था । उन्होने समयप्राभृत का परिभाषण किया – परिभाषा सूत्र बनाये ।

सूत्र की दस जातियाँ कही गई हैं, उनमे से एक परिभाषा जाति भी है । जो अधिकार को अर्थ के द्वारा यथास्थान सूचित करे, वह परिभाषा कहलाती है । श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार का परिभाषण करते है अर्थात् वे समयप्राभृत के अर्थ को ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषा सूत्र रचते हैं।"

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि यह समयसार नामक ग्रन्थाधिराज तीर्थकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि मे समागत, गौतमादि गणधरो द्वारा रचित एव भद्रबाहुपर्यन्त सभी श्रुतकेवलियो द्वारा कथित द्वादशाग के बारहवे अग के ज्ञानप्रवाद नामक पाचवे पूर्व के दसवे वस्तु अधिकार के समय नामक प्राभृत के अनुसार लिखा गया है ।

इस ग्रन्थाधिराज समयसार का मूल प्रतिपाद्य भगवान आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, अत वह अभिधेय हुआ । इस ग्रन्थ मे जिन पदो का, शब्दो का प्रयोग किया गया है, वे सभी पद शुद्धात्मा के प्रतिपादक है । अत उन पदो और शुद्धात्मा मे वाचक-वाच्य सबध है, प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सबध है और शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मूल प्रयोजन है ।

इसप्रकार इस ग्रन्थ के अभिधेय, सबध और प्रयोजन तो स्पष्ट ही हैं।

इसप्रकार इस पहली गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल, अमल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धो की वदना कर केवली और श्रुतकेवलियो द्वारा कथित समयसार नामक ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा करते है । •

समयसार गाथा २

प्रथम गाथा मे समयप्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की गई है, समयसार लिखने की प्रतिज्ञा की गई है । अत यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समय क्या है ? इसलिए अब आचार्यदेव सर्वप्रथम समय का स्वरूप ही स्पष्ट करते हैं ।

जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिदो त हि ससमय जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिद च त जाण परसमय ॥२॥

(हरिगीत)

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्व-समय ।
जो कर्म पुद्गल के प्रदेशों में रहे वे परसमय ॥२॥

जो जीव दर्शन, ज्ञान एव चारित्र मे स्थित है, उसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशो मे स्थित है, उसे परसमय जानो ।

स्वभाव मे स्थित जीव स्वसमय है और परभाव मे स्थित जीव परसमय है। स्वसमय और परसमय दोनो अवस्थाओ मे व्यापक प्रत्यगात्मा समय है।

मूल गाथा मे तो स्वसमय और परसमय को ही परिभाषित किया गया है, पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन पहले समय का स्वरूप स्पष्ट करते है, उसके बाद स्वसमय और परसमय को समझाते हैं ।

'समय' शब्द का भाव आत्मख्याति मे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है '—

"समय शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'अय' धातु से बना है । 'अय' का अर्थ गमन भी होता है और ज्ञान भी होता है । 'सम्' का अर्थ 'एकसाथ' होता है । इसप्रकार जिस वस्तु मे एक ही काल मे जानना और परिणमन करना — ये दोनो क्रियाये पाई जावें, वह ही समय है । चूंकि जीव प्रतिसमय जानता भी है और परिणमन भी करता है, अत जीव नामक पदार्थ ही समय है ।

वह समय नामक जीव पदार्थ परिणमनशील होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणवाली सत्ता से युक्त है, चैतन्यस्वभावी होने से नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शन-ज्ञान ज्योतिस्वरूप है, अनन्तधर्मो के अधिष्ठातारूप एकधर्मी होने से जिसका द्रव्यत्व प्रगट है, क्रम और अक्रम से प्रवत्त होनेवाले विचित्र स्वभाव को धारण करनेवाला होने से जो गुण-पर्याय वाला है । स्व-पर के प्रकाशन मे समर्थ होने से समस्त पदार्थो को प्रकाशित करनेवाली एकरूपता प्राप्त की है जिसने, अन्यद्रव्यो के जो विशेष गुण हैं, ऐसे अवगाहनहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व के अभाव से एव असाधारण चैतन्यरूप के सद्भाव से आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल -- इन पाचो द्रव्यो से जो अत्यन्त भिन्न है, वह जीव नामक पदार्थ अनन्त अन्यद्रव्यो से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप से सबंधित होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने के कारण टकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है ।

ऐसा जीव नामक पदार्थ ही समय है ।

जब यह समय (जीव) सब पदार्थो के स्वभाव को प्रकाशन करने मे समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदविज्ञानज्योति के उदय होने से सभी परद्रव्यो से अपनापन तोडकर, अपने दर्शन-ज्ञान स्वभाव मे है नियतवृत्ति जिसकी, ऐसे आत्मतत्त्व मे एकाकार होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक ही समय मे जानता तथा परिणमता हुआ स्वसमय कहलाता है ।

जब यह समय (जीव) अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गाठ के समान परिपुष्ट मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की अधीनता से दर्शन-ज्ञान स्वभाव मे नियतवृत्ति रूप आत्मतत्त्व से अपनापन तोडकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावो मे एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है, तब पुद्गलकर्म के प्रदेशो मे स्थित होने से युगपद् ही पर मे एकाकार होकर जानता और परिणमता हुआ परसमय कहलाता है ।

इसप्रकार इस समय (जीव) की स्वसमय और परसमय – यह द्विविधता (दो पना) प्रगट होती है ।"

यहाँ समय का स्वरूप सात विशेषणो के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । वह समय नामक जीव पदार्थ –

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त सत्ता सहित है ।

(२) ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यम्वभावी है ।

(३) अनन्तधर्मात्मक एक अखण्ड द्रव्य है ।

(४) अक्रमवर्ती गुणो एव क्रमवर्ती पर्यायो से युक्त है ।

(५) स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य से युक्त होने से अनेकाकार होने पर भी एकरूप है ।

(६) अपने असाधारण चैतन्यस्वभाव के सद्भाव एव परद्रव्यो के विशेष गुणो के अभाव के कारण परद्रव्यो से भिन्न है ।

(७) परद्रव्यो से एक क्षेत्रावगाहरूप से अत्यन्त मिला हुआ होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नही होने के कारण टकोत्कीर्ण चित्स्वभावी है।

यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ परद्रव्यो और उनके गुण-पर्यायो से अत्यन्त भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वभावी, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से सहित, गुण-पर्यायवान, स्व-परप्रकाशक, अनन्तधर्मात्मक, टकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य है ।

यहाँ प्रमाण के विषयभूत जीवद्रव्य को लिया गया है, द्रव्यार्थिकनय के विषय या दृष्टि के विषयरूप जीवतत्त्व को नही । उसकी चर्चा तो छठवी-सातवी एव चौदहवी-पद्रहवी गाथा मे आयेगी ।

यहाँ तो पर से भिन्न और अपने गुण-पर्यायो से अभिन्न जीवतत्त्व की बात चल रही है, क्योकि यह जीव की द्विविधता की बात है । जिस जीव मे द्विविधता आती है, वह जीव तो गुण-पयार्यवाला जीव ही हो सकता

है, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत जीव तो एकरूप ही होता है, उसमे तो द्विविधता (दो पना) संभव ही नही है ।

यहाँ जो जीवद्रव्य के विशेषण दिये गये हैं, उनसे जैनदर्शन मे मान्य जीव का स्वरूप स्पष्ट होता है और अन्य कथित मान्यताओ का निराकरण भी होता है ।

आत्मा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है' — इस विशेषण से आत्मा की सत्ता न मानने वाले नास्तिको, आत्मा को सर्वथा अपरिणामी माननेवाले साख्यो, सत्ता को सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक और वैशेषिको तथा सर्वथा क्षणिक माननेवाले बौद्धो का निराकरण हो गया।

'आत्मा स्व-परप्रकाशक है' — इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नही, इसप्रकार एकाकार को ही माननेवालो का तथा ज्ञान पर को ही जानता है, अपने को नही, इसप्रकार अनेकाकार को ही माननेवालो का निराकरण हो गया ।

'यह भगवान आत्मा धर्मादि अन्य द्रव्यो से भिन्न है' — इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही माननेवालो का निराकरण हो गया ।

पण्डित जयचन्दजी छाबडा उक्त कथन के सार को इसी गाथा के भावार्थ मे इसप्रकार लिखते हैं —

"जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है । 'जीव' इसप्रकार अक्षरो का समूह 'पद' है और उस पद से जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्तस्वरूपता निश्चित की जाये, वह पदार्थ है ।

यह जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनन्तधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होने से वस्तु है, गुण-पर्यायवान है, उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है और वह जीवपदार्थ आकाशादि से भिन्न असाधारण चैतन्य-गुणस्वरूप है तथा अन्य द्रव्यो के साथ एकक्षेत्र मे रहने पर भी अपने स्वरूप को नही छोडता । ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है ।

जब वह अपने स्वभाव मे स्थित हो, तब स्वसमय है और जब परस्वभाव राग-द्वेष-मोहरूप होकर रहे, तब परसमय है ।

इसप्रकार जीव के द्विविधता आती है ।"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मूल गाथा में तो स्वसमय और परसमय की ही चर्चा की है, उन्हें ही परिभाषित किया है, समय की तो बात ही नही की, पर टीका मे मुख्यरूप से समय की बात की जा रही है । इसका क्या कारण है?

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रमाण के विषयभूत समय नामक जीवद्रव्य का कथन पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थ मे विस्तार से कर चुके हैं, अतः यहाँ उसका विवेचन उन्हें अभीष्ट नहीं है । इस ग्रन्थराज में तो वे द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत आत्मद्रव्य का स्वरूप बताना चाहते हैं । यही कारण है कि उन्होंने ग्रन्थ का नाम समयसार रखा है । समय माने पर से पृथक् गुण-पर्यायवाला जीवद्रव्य, प्रमाण का विषयरूप जीव-द्रव्य; और समयसार का अर्थ होता है पर और पर्याय से पृथक् त्रिकाली ध्रुव आत्मवस्तु। समय के साथ सार लग जाने से पर्याय का निषेध हो जाता है ।

अब रही यह बात कि जब आचार्य कुन्दकुन्द ने समय का स्वरूप स्पष्ट नही किया तो उसी गाथा की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र समय के स्वरूप को इतने विस्तार से क्यो स्पष्ट कर रहे हैं ।

अरे भाई । विस्तार से कहाँ, सक्षेप मे ही तो समझाया है । पंचास्तिकाय एव प्रवचनसार के विस्तृत विवेचन को मात्र छह-सात पक्तियो मे समेट कर ही तो बात की है। आचार्य अमृतचन्द्र समय अर्थात् आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर देना चाहते हैं, स्मरण करा देना चाहते हैं, जिससे पाठको को समय के सन्दर्भ मे समयसार समझाया जा सके ।

स्वसमय और परसमय – ये दो भेद समय के हैं, समयसार के नही। तात्पर्य यह है कि गुण-पर्यायवान जीवद्रव्य ही स्वसमय और परसमय मे विभक्त होता है, विभाजित होता है, समयसाररूप शुद्धात्मा तो अविभक्त

है, उसके तो कोई भेद होते ही नही हैं । स्वसमय और परसमय के भेद पर्याय की ओर से किये गए भेद ही है, अत पर्याय सहित आत्मा के ही हो सकते है ।

उनकी परिभाषाओ से ही यह बात स्पष्ट होती है कि जब यह समय नामक जीव पदार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, तब स्वसमय कहलाता है और जब पुद्गलकर्म के प्रदेशो मे स्थित होता है, तब परसमय कहलाता है । तात्पर्य यह है कि जब यह गुण-पर्यायवान जीवद्रव्य अपने त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा मे अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसमे ही जमता-रमता है, तब स्वसमय कहलाता है, और जब पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से प्राप्त सयोगो मे, सयोगीभावो मे अपनापन स्थापित करता है, उन्हे ही अपना जानता-मानता है, उनमे ही जमता-रमता है, तब परसमय कहलाता है ।

प्रवचनसार मे स्वसमय-परसमय की परिभाषा इसप्रकार दी गई है —

"जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिदिट्ठा ।
आदसहावम्हि ठिदा से सगसमया मुणेदव्वा ॥[१]

जो जीव पर्यायो मे लीन है, उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव मे स्थित है, उन्हें स्वसमय जानना चाहिए ।"

समयसार की दूसरी गाथा मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार मे आत्मस्वभाव मे स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है । इसीप्रकार समयसार मे पुद्गलकर्म के प्रदेशो मे स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार मे पर्यायो मे निरत आत्मा को परसमय कहा गया है ।

उक्त दोनो कथनो में कोई अन्तर नही है, मात्र अपेक्षा भेद है । आत्मस्वभाव मे स्थित होने का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित होना

१ आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार, गाथा ९४

है । श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्याये जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, उसी को आत्मस्वभाव मे स्थित होना कहते है और उसी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित होना कहते है ।

समयसार की आत्मख्याति टीका मे पुद्‌गलकर्म के प्रदेशो मे स्थित होने का अर्थ मोह-राग-द्वेषादि भावो मे एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका मे पर्यायों मे निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमानजाति द्रव्यपर्यायो मे एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है ।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या मे आत्मख्याति मे मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामो के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका टीका मे मनुष्यादि असमानजाति द्रव्यपर्यायो के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है ।

आत्मख्याति मे उपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका मे अनुपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है । रागादि के साथ एकता की बात उपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय कहता है और मनुष्य देहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनय कहता है ।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है और वे तीनो भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते है, क्योकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नही । चौथे गुणस्थान मे ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है, सम्यग्ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है, भले केवलज्ञान नही है, पर सम्यक्‌पने मे कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नही होती ।

अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव मे चारित्र का अश चतुर्थ गुणस्थान मे प्रकट हो जाता है और पूर्णता वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवे

गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवे गुणस्थान मे निश्चयचारित्र होता है ।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवो को निम्नांकित तीन भागो में रखा जाता है :—

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थगुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं । इस अपेक्षा तो चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं ।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवो को ही यदि निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेगे ।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो फिर बारहवे गुणस्थान से आगे वाले ही स्वसमय कहलायेगे ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय – यह अपेक्षा तो ठीक, पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे – स्वसमय या परसमय ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पचास्तिकाय की १६५वी गाथा द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥

'शुद्धसम्प्रयोग से दुःखो से मोक्ष होता है' – अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है ।"

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है कि यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है । वे आगे लिखते हैं कि यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहंतादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरंजित चित्तवृत्ति ही शुद्धसम्प्रयोग है । जब अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी 'उस

शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' – ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमे (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तबतक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है, तो फिर निरंकुश रागरूपक्लेश से कलकित अतरंगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यो नही कहलायेगे ?

उक्त गाथा और उसकी टीका दोनो ही गभीर मथन की अपेक्षा रखती है । सबसे मुख्य बात तो यह है कि 'ज्ञानी भी अज्ञान से' – यह गाथा का वाक्य एव 'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी' यह टीका का वाक्य – ये दोनो ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए है । जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है ?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है, तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना सभव नही होता । क्योकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहंतादि की भक्ति से अनुरंजित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है – ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है । अत यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नही है ।

यदि औदयिक अज्ञान की बात नही है और ज्ञानी के क्षायोपशमिक अज्ञान होता ही नही है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, यहाँ मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है । इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहंत की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है – इस अभिप्राय वाले भी परसमय कहे जाते है तो फिर विषय-कषाय मे सुखबुद्धि से निरकुश प्रवृत्ति करनेवाले तो परसमय होगे ही ।

वस्तुत तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नही, भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न ? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है । यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' – यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है ।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने मे संकोच का अनुभव हो रहा है । उनका सकोच इस रूप मे व्यक्त हुआ है कि वे कहते है यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है । यद्यपि गाथा मे ऐसा कोई भेद नही किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरंभ मे ही यह बात लिखते हैं ।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्मपरसमय हैं' – इसप्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका मे आचार्य जयसेन ने व्यक्त किया है । उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है –

"कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासयम मे स्थित होने मे अशक्त होता हुआ काम-क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामो से बचने के लिए तथा ससार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पचपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है, तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है, और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है – ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है ।"

उक्त कथन मे मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है । इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय है ।

पचास्तिकाय की गाथा १६५ से १६९ तक पाँच गाथाओ मे शुभराग मे धर्मबुद्धि का और शुभरागरूप परिणति का बडी ही निर्दयता से निषेध किया गया है । ऐसे जीवो को परसमय कहकर स्वसमय बनने की प्रेरणा दी गई है ।

समयसार की दूसरी गाथा की टीका मे आचार्य जयसेन निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीव को स्वसमय और निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव को परसमय कहते हैं ।

हाँ, एक बात यह भी हो सकती है कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की देशघाति प्रकृति सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व मे चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं, उन दोषों को ही यहाँ 'अज्ञानलव' शब्द से सबोधित किया हो, क्योंकि उक्त दोषो का भी लगभग वही स्वरूप है, जो यहाँ सूक्ष्मपरसमय के प्रतिपादन मे व्यक्त किया गया है । अतः एक सभावना यह भी हो सकती है कि यहाँ चल, मल और अगाढ दोष वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टियो को ही यहाँ 'सूक्ष्मपरसमय' शब्द से सबोधित किया गया हो ।

अरे, भाई । यह सब तो सूक्ष्म परसमय का विवेचन है, मूलरूप से तो यहाँ यही उपयुक्त है कि स्वसमय माने सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, मुक्तिमार्गी एव मुक्त, तथा परसमय माने मिथ्यादृष्टि ससारी । प्रथम गुणस्थान वाले परसमय है और चौथे गुणस्थान से सिद्धदशा तक के जीव स्वसमय है ।

निष्कर्ष के रूप मे यही कहा जा सकता है कि वास्तविक धर्मपरिणत आत्मा ही धर्मात्मा है, स्वसमय है, और धर्म परिणति से विहीन मोह-राग-द्वेषरूप परिणत आत्मा ही अधर्मात्मा है, परसमय है ।

स्वसमय उपादेय है, परसमय हेय है, समय ज्ञेय है और समयसार ध्येय है । समयसाररूप ध्येय के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से यह समय स्वसमय बनता है और समयसार के ज्ञान, श्रद्धान एव ध्यान के अभाव मे मोह-राग-द्वेषरूप परिणत होकर परसमय बनता है ।

अत समयसाररूप शुद्धात्मा को समझकर उसमे अपनापन स्थापित करना, उसका ही ध्यान करना अपना परम कर्त्तव्य है । •

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भग करने वाला नही होना चाहिए । विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है, क्योंकि निरकुश विवेक पूर्वजो से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है ।

— आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ३१

समयसार गाथा ३

दूसरी गाथा मे समय की द्विविधता बताई गई थी, पर यह द्विविधता शोभनीय नहीं है, शोभास्पद तो एकत्व ही है । इस बात को तीसरी गाथा मे स्पष्ट करते है ।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।
बधकहा एयत्ते तेण विसवादिणी होदि ॥३॥

(हरिगीत)

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ॥३॥

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक मे सर्वत्र ही सुन्दर है। इसलिए एकत्व मे दूसरे के साथ बध की कथा विसवाद पैदा करनेवाली है।

प्रत्येक पदार्थ अपने मे ही शोभा पाता है, पर के साथ बध की कथा, मिलावट की बात विसवाद पैदा करनेवाली है, अत यदि विसवाद से बचना है तो एकत्व को ही अपनाना श्रेयस्कर है ।

आत्मख्याति मे इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है —

"यहाँ समय शब्द से सामान्यत सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि जो एकीभाव से स्वय के गुण-पर्यायो को प्राप्त हो, उसे समय कहते हैं । इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, लोक के ये सभी पदार्थ समय शब्द से अभिहित किए जाते है और एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से सुन्दरता को पाते है । तात्पर्य यह है कि ये सब अकेले ही शोभास्पद होते हैं, क्योंकि अन्यप्रकार से उसमे सर्वसकरादि दोष आ जावेगे।

वे सभी पदार्थ अपने-अपने द्रव्य मे अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मो के चक्र को चुम्बन करते है, स्पर्श करते है, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे

को स्पर्श नहीं करते । अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नही होते है । पररूप परिणमन न करने से उनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नही होती, इसलिए वे टकोत्कीर्ण की भांति सदा स्थित रहते है और समस्त विरुद्ध कार्य व अविरुद्ध कार्य की हेतुता से विश्व को सदा टिकाये रखते हैं, विश्व का उपकार करते हैं।

इसप्रकार सर्वपदार्थो का भिन्न-भिन्न एकत्व प्रतिष्ठित हो जाने पर — एकत्व सिद्ध हो जाने पर जीव नामक समय को बध की कथा से ही विसवाद की आपत्ति आती है । तात्पर्य यह है कि जब सभी पदार्थ परस्पर भिन्न ही है तो फिर यह बन्धन की बात जीव के साथ ही क्यो ?

जब बध की बात नही टिकती तो फिर बध के आधार पर कहा गया पुद्गल प्रदेशो मे स्थित होना भी कैसे टिकेगा ? तथा उसके आधार पर होनेवाला परसमयपना भी नही टिक सकता । जब परसमयपना नही रहेगा तो फिर उसके आधार पर किया गया स्वसमय-परसमय का विभाग कैसे टिकेगा ? जब यह विभाग ही नही रहा तो फिर समय (जीव) के एकत्व होना ही सिद्ध हुआ और यही श्रेयस्कर भी है ।"

देखो, दूसरी गाथा मे 'समय' शब्द का अर्थ जीवद्रव्य लिया था और यहाँ छहो द्रव्य लिया जा रहा है । वहाँ जो एक ही समय मे गमन भी करे और ज्ञान भी करे, उसे समय कहते है, इस व्याख्या के अनुसार समय शब्द का अर्थ जीव किया था और यहाँ जो अपने गुण-पर्यायो को प्राप्त हो, उसे समय कहते है, इस व्याख्या के अनुसार समय शब्द का अर्थ छहो द्रव्य लिया है ।

दूसरी गाथा मे समय का द्विविधपना बताया था और यहाँ उसका निषेध किया जा रहा है, उसमें बाधा उपस्थित की जा रही है ।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जब प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न ही हैं, अपने-अपने मे ही रहते हैं, कोई किसी को छूता भी नही है तो फिर आत्मा का पुद्गल के प्रदेशो मे स्थित होना कैसे संभव है ? इस बंध की कथा मे ही विसवाद

है अथवा यह बध की कथा ही विसवाद पैदा करनेवाली है । जब दो द्रव्य परस्पर मिलते ही नहीं तो बधने की बात मे दम ही क्या है ?

जब आत्मा बधा ही नही है तो उसके परसमयपना ही नहीं ठहरता है । जब परसमयपना ही नही है तो फिर स्वसमय कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि स्वसमय तो परसमय की अपेक्षा कहा जाता है । अत समय तो समय है, वह न स्वसमय है न परसमय है । इस बध की कथा ने ही ऐसे दो भेद किये हैं, अत यह बधकथा ही विसवाद पैदा करनेवाली है, दुविधा पैदा करनेवाली है ।

यदि विसवाद मिटाना है तो बध की बात ही मत करो, एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा ही श्रेष्ठ है । बध की कथा विसवाद पैदा करनेवाली और एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा विसवाद मिटानेवाली है । यही बात तो आगे चौथी-पाचवी गाथा मे कहनेवाले हैं कि तुमने अबतक काम, भोग और बध की कथा ही सुनी है, अब मै तुम्हें एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा सुनाऊँगा ।

आचार्यदेव को बध की कथा मे कोई रस नही है, वे तो आत्मा के एकत्व को ही समझाना चाहते है । वे तो यहाँ भी साफ-साफ कह रहे है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्तर मे रहनेवाले अनन्तधर्मो को चूमते है, परन्तु पर को स्पर्श भी नही करते, एक क्षेत्रावगाह रूप से अत्यन्त निकट ठहर रहे है, पर अपने स्वरूप से च्युत नही होते ।

इसलिए बध की कथा मे कोई दम नहीं है, एकत्व की कथा ही करने योग्य है ।

प्रश्न — विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य की हेतुता से विश्व का उपकार करते हैं, विश्व को टिकाये रखते हैं । — इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर — उक्त कथन का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"द्रव्य की पर्याय मे जो उत्पाद-व्यय है, वह परस्पर विरुद्ध कार्य है। धवल ग्रन्थ मे आता है कि एक समय की पर्याय मे उत्पाद-व्यय अर्थात्

उपजना व विनशना — इसप्रकार दो परस्पर विरुद्ध कार्य होते हैं । जिससमय द्रव्य की वर्तमान पर्याय उत्पन्न होती है, उसीसमय पूर्व की पर्याय का व्यय होता है । उत्पाद् भावरूप है और व्यय अभावरूप है। इसकारण उत्पाद को व्यय से विरुद्ध कहा जाता है । ऐसा होते हुए भी गुण गुणपने से त्रिकाल कायम रहते है, इससे वे अविरुद्ध हैं । ऐसा विरुद्ध-अविरुद्ध वस्तु का स्वरूप ही है।

एकसमय की पर्याय मे जो उत्पाद-व्यय है, वह परस्पर विरुद्धभाव है और गुण कायम रहते हैं, वह अविरुद्धभाव हैं । इसतरह विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य अर्थात् अनन्त द्रव्यो का उत्पाद-व्ययरूप विरुद्धभाव और गुणरूप अविरुद्धभाव — इन दोनो के हेतुपने से हमेशा विश्व का उपकार करते है । अर्थात् द्रव्य के गुण-पर्यायरूप स्वरूप के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही टिके रहते है ।[१]"

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने मे ही होता है, कोई भी द्रव्य पररूप परिणमन नहीं करता । इसकारण प्रत्येक द्रव्य का व्यक्तित्व सदा स्वतत्र ही रहता है, उसकी व्यक्तिता कभी नष्ट नही होती, वह अपनी स्वतत्र इकाई के रूप मे सदा प्रतिष्ठित रहता है । यही कारण है कि सभी पदार्थ टकोत्कीर्ण की भाँति सदा स्थित रहते हैं ।

यहाँ एकत्वनिश्चयगत समय का अर्थ स्पष्ट करते हुए सभी पदार्थों के सम्बन्ध मे चार बाते स्पष्ट की गई है —

(१) जीवादि सभी पदार्थ अपने मे ही मग्न हैं, अपने गुण-पर्यायो को ही आलिगित करते है, पर को स्पर्श तक नही करते ।

(२) वे एक क्षेत्रावगाहरूप से अत्यन्त निकट रहने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, अपने स्वभाव को नही छोडते ।

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ ६३

(३) पररूप परिणमन न करने से वे टकोत्कीर्ण की भाँति अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को धारण किये रहते है, उनकी व्यक्तिता (व्यक्तित्व-इकाई) नष्ट नही होती ।

(४) उत्पाद और व्यय तथा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य जैसे विरोधी स्वभावो को एक साथ धारण करके वे विश्व को टिकाये रखते है, विश्व का उपकार करते है ।

वे पर को स्पर्श नही करते, स्वभाव से च्युत नही होते और अपनी इकाई को कायम रखते हुए विश्व को टिकाये रखते हैं । जगत के सभी द्रव्यो मे ये विशेषताये समानरूप से पाई जाती हैं । यद्यपि जीव नामक पदार्थ मे भी उक्त विशेषताये पाई जाती है, तथापि उसके बधन की जो बात है, वह विसवाद पैदा करती है ।

जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता ही नही है, अपने स्वभाव से च्युत होता ही नही है, टकोत्कीर्ण की ही भाँति अपनी इकाई को टिकाये रखता है, तो फिर आत्मा ही दूसरे से क्यो बँधे ?

इस बध की कथा ने ही तो आत्मा के स्वसमय और परसमय — ऐसे दो भेद किये है। इस द्विविधपने ने ही तो आत्मा के सौन्दर्य को खण्डित किया है । अत अन्य द्रव्यो के समान आत्मा को भी द्विविधता इष्ट नही। एकत्व मे ही सौन्दर्य है — इसलिए आत्मा को एकत्व ही इष्ट है ।

आचार्य जयसेन इस गाथा की व्याख्या करते हुए एकत्वनिश्चयगत का अर्थ अपने शुद्धगुण-पर्यायो से परिणत अथवा अभेदरत्नत्रयपरिणत करते हैं और 'समय' शब्द का अर्थ भी अमृतचन्द्र के समान छहद्रव्य न करके मात्र आत्मा ही करते है ।

इसप्रकार उनके अनुसार अभेदरत्नत्रयपरिणत अर्थात् निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मा ही एकत्वनिश्चयगत आत्मा है और वही लोक मे सर्व सुन्दर है, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है ।

निष्कर्ष के रूप मे वे स्पष्ट लिखते हैं —

"तत' स्थितं स्वसमय एव आत्मनः स्वरूपमिति — अत यह निश्चित हुआ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है ।"

'बधकथा' का अर्थ कर्मजनित गुणस्थान आदि पर्याय करते हुए वे कहते है कि आत्मा के साथ बध की कथा अर्थात् गुणस्थानादि की चर्चा विसवादिनी है, असत्य है । ध्यान रहे आचार्य जयसेन विसवादिनी का अर्थ स्पष्टरूप से असत्य करते है ।

इसप्रकार उनके अनुसार गुणस्थानादिपर्यायो की चर्चा अथवा इन पर्यायो की ओर से आत्मा की चर्चा असत्यार्थ है । तात्पर्य यह है कि स्वसमय की कथा वास्तविक है, करने योग्य है, विसवाद मिटानेवाली है और परसमय की चर्चा करना ठीक नही है, विसवाद करनेवाली है, बध की कथा है, जिसे इस जीव ने अनन्तबार सुनी है, समझी है, पर एकत्वनिश्चयगत स्वसमय की कथा न सुनी है न समझी है और न उसका परिचय ही प्राप्त किया है।

इसी भाव को आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वय अगली गाथा मे व्यक्त कर रहे है ।

आचार्यदेव जिस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की चर्चा समयसार मे करनेवाले है, उसके औचित्य पर प्रकाश तो आगामी गाथा मे डाला जायेगा, यहाँ तो मात्र इतना ही बताना है कि बधकथा मे उलझने से कोई लाभ नही है । •

स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा स्वय ज्ञानानन्दस्वभावी परिपूर्ण तत्त्व है ही, पर्याय मे भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे पर की ओर झांकने की आवश्यकता नहीं । यह स्वयं अपनी भूल से दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है । प्रत्येक आत्मा स्वय भगवानस्वरूप है और यदि पुरुषार्थ करे तो भगवानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने में भी समर्थ है ।

— सत्य की खोज, पृष्ठ १८६

समयसार गाथा ४

अब इस चौथी गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि काम-भोग एव बध की कथा तो सभी को सुलभ है, पर उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की बात सभी को सहज सुलभ नही है, अपितु अत्यन्त दुर्लभ है ।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुबलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

(हरिगीत)

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा ।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥४॥

काम, भोग और बध की कथा तो सम्पूर्ण लोक ने खूब सुनी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है और उनका अनुभव भी किया है, अत वह तो सर्वसुलभ ही है । परन्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न भगवान आत्मा की कथा न कभी सुनी है, न उसका कभी परिचय प्राप्त किया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है, अत वह सुलभ नही है ।

यही कारण है कि आचार्यदेव उस असुलभ कथा को इस समयसार ग्रथाधिराज के माध्यम से सुलभ कराना चाहते है ।

यद्यपि लोक मे काम और भोग शब्द लगभग एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं, तथापि आचार्य जयसेन उक्त अर्थ को स्वीकार करते हुए भी अथवा कहकर 'काम' शब्द का अर्थ स्पर्शन और रसना इन्द्रिय का विषय करते है और 'भोग' शब्द का अर्थ घ्राण, चक्षु एव कर्ण इन्द्रिय का विषय करते है। इसप्रकार काम-भोगकथा का अर्थ पचेन्द्रिय विषयो की कथा हो जाता है।

'बध' शब्द का अर्थ 'सबधी' करते हुए वे लिखते है कि काम-भोग सम्बन्धी कथा । 'बध' शब्द का दूसरा अर्थ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बध तथा उसके फल मे प्राप्त होनेवाली नरकादिरूप चतुर्गति परिभ्रमण भी वे

करते हैं । तीसरी गाथा की टीका मे बधकथा का अर्थ गुणस्थानादि पर्याय किया ही था ।

इसप्रकार समग्ररूप से उनका कहना यह है कि पचेन्द्रियो के विषयो एव चार प्रकार के बध व उसके फल मे प्राप्त होनेवाली नरकादि गतियों तथा गुणस्थानादिरूप ससारी पर्यायो की कथा तो इस जीव ने अनन्तबार सुनी है, समझी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है, अंनुभव भी किया है, अत वह कथा तो सर्वसामान्य को सहज ही सुलभ है । किन्तु पर से भिन्न अपने मे एकत्व लिए निश्चयरत्नत्रय से परिणित रागरहित भगवान आत्मा की बात सुलभ नही है । इसीकारण आचार्यदेव एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की बात आरभ करते है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की टीका मे इसका भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"यद्यपि यह कामभोग सम्बन्धी (कामभोगानुबद्धा) कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसवाद करानेवाली है, तथापि समस्त जीवलोक ने इसे अनन्तबार सुना है, अनन्तबार इसका परिचय प्राप्त किया है और अनन्तबार इसका अनुभव भी किया है ।

ससाररूपी चक्र के मध्य मे स्थित, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त पचपरावर्तन से भ्रमण को प्राप्त, अपने एकछत्र राज्य से समस्त विश्व को वशीभूत करनेवाला महामोहरूपी भूत जिसे बैल की भाँति जोतता है, भार वहन कराता है, अत्यन्त वेगवान तृष्णारूपी रोग के दाह से सतप्त एव आकुलित होकर जिसप्रकार मृग मृगजल के वशीभूत होकर जगल मे भटकता है, उसीप्रकार पचेंन्द्रियो के विषयो से घिरा हुआ है या पंचेन्द्रियो के विषयो को घेर रखा है जिसने, ऐसा यह जीवलोक इस विषय में परस्पर आचार्यत्व भी करता है, एक-दूसरे को समझाता है, सिखाता है, प्रेरणा देता है । यही कारण है कि काम-भोग-बधकथा सबको सुलभ है ।

किन्तु निर्मल भेदज्ञानज्योति से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला आत्मा का

एकत्व अथवा एकत्व-विभक्त आत्मा यद्यपि अतरग मे प्रगटरूप से प्रकाशमान है, तथापि कषाय-चक्र के साथ एकरूप किये जाने से अत्यन्त तिरोभूत हो रहा है ।

जगत के जीव एक तो अपने को जानते नही हैं और जो आत्मा को जानते है, उनकी सेवा नहीं करते हैं, उनकी सगति मे नहीं रहते है । इसकारण इस एकत्व-विभक्त आत्मा की बात जगत के जीवो ने न तो कभी सुनी है न कभी इसका परिचय प्राप्त किया है और न कभी वह आत्मा जगत के जीवो के अनुभव मे ही आया है, यही कारण है कि भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नही है ।"

इस टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पडित जयचन्दजी छाबडा भावार्थ मे लिखते हैं –

"इस लोक मे समस्त जीव ससाररूपी चक्र पर चढकर पचपरावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हे मोहकर्मरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है। इसलिए वे विषयो की तृष्णारूपी दाह से पीडित होते हैं और उस दाह का इलाज इन्द्रियो के रूपादि विषयो को जानकर उनकी ओर दौडते है तथा परस्पर भी विषयो का ही उपदेश करते है ।

इसप्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचय मे प्राप्त की और उसी का अनुभव किया, इसलिए वह सुलभ है ।

किन्तु सर्व परद्रव्यो से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान स्वय को स्वय से कभी हुआ नही, और जिसे वह ज्ञान हुआ है उनकी सेवा नही की, इसलिए उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया, इसकारण उसकी प्राप्ति सुलभ नही, दुर्लभ है।"

अनादिकाल से यह आत्मा पचेन्द्रिय के विषयो मे सुख मानता हुआ उन्ही के सग्रह और भोगने मे मग्न है । पुण्योदय से या कालक्रमानुसार मनुष्य पर्याय पाकर भी अनादि अभ्यास के कारण यह पचेन्द्रियो के विषयो को ही जोडने और भोगने मे लगा रहता है । धर्म के नाम पर भी जिन भावो

से पुण्य-पाप बधता है, उन भावो का ही विचार करता है, चर्चा-वार्ता करता है, गुणस्थानादि की चर्चा करके या कुछ बाह्याचार पालकर अपने को धर्मात्मा मान लेता है ।

धर्म के नाम पर भी कर्मबध की ही चर्चा करता है, 'पर' और रागादि से भिन्न निज भगवान आत्मा का विचार ही नहीं करता है । कर्मबध की चर्चा तो करता है, पर कर्म से बधने की बात तो बहुत दूर, कर्म ने तो आज तक आत्मा को छुआ ही नही — यह बात आज तक इसके कान मे ही नही पडी है, पडी भी हो तो इसने उसपर ध्यान ही नही दिया है, विचार ही नही किया है ।

एक तो यह एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के बारे मे स्वय कुछ जानता नही है, दूसरे जो ज्ञानी धर्मात्माजन भगवान आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति जानते है — उनकी सेवा नही करता, उनका समागम नही करता, उनसे कुछ सीखने-समझने की कोशिश नहीं करता, यदि आगे होकर भी वे कुछ सुनाये, समझाये तो यह उनकी बात पर ध्यान ही नही देता, इसलिए अनन्तकाल से ससार मे भटक रहा है ।

यहाँ आचार्यदेव ज्ञानियो के सत्समागम की प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि भाई । तू ज्ञानियो की सेवा कर, उनकी बात पर ध्यान दे । तुझे पता नही है कि भगवान आत्मा को नही पहिचानने से तेरी कैसी दुर्दशा हो रही है ?

अज्ञानी की दुर्दशा का चित्र खीचते हुए टीका मे कहा गया है कि यह लोक ससाररूपी चक्की के पाटो के बीच अनाज के दानो के समान पिस रहा है, मोहरूपी भूत इसे पशुओ की भाँति जोत रहा है, तृष्णारूपी रोग से यह जल रहा है, मृगतृष्णा मे फँसकर मृग की भाँति भटक रहा है। आश्चर्य तो यह है कि पचेन्द्रिय विषयो मे उलझा हुआ, फँसा हुआ यह अज्ञानी लोक परस्पर आचार्यत्व भी करता है । लोग विषय-कषाय की चतुराई एक-दूसरे को बताते हैं सिखाते हैं । पैसा कैसे कमाना, उसे कैसे भोगना

— आदि बातों को जगत को बताते हैं, उन्हीं कार्यों के करने की प्रेरणा भी देते हैं ।

बाप बेटो को समझाता है कि पैसा कैसे कमाना, कैसे जोडना और बेटे भी बाप को समझाते हैं कि अब जमाना बदल गया है, पुरानी ईमान धर्म की बाते अब नही चल सकती । अब तो खाओ-पिओ और मौज उडाओ — इसी मे सार है ।

इसप्रकार सभी अज्ञानी एक-दूसरे को भोग भोगने की ही प्रेरणा देते है। इसीकारण काम, भोग और बध की कथा जगत मे सर्वत्र सुलभ है, किन्तु पर से विभक्त एव अपने मे अविभक्त भगवान आत्मा की कथा अत्यन्त दुर्लभ है, क्योकि उसकी चर्चा करनेवाले इस जगत मे अत्यन्त अल्प है, कही-कही ही जुगनू के समान चमकते दिखाई देते है ।

सागारधर्मामृत मे लिखा है —

"खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतंते क्वचित्-क्वचित् ।[१]

सदुपदेश देनेवाले इस कलियुग मे जुगनू के समान कही-कही ही चमकते हैं — इस बात का अत्यन्त खेद है ।"

यद्यपि भेदज्ञानज्योति से प्रकाशमान यह भगवान आत्मा अन्तरंग मे स्पष्टरूप से प्रकाशमान है, तथापि अनादिकालीन अज्ञान से कषायचक्र के साथ एकरूप किये जाने से तिरोहित हो रहा है, अज्ञानी जगत को दिखाई नही दे रहा है । यही कारण है कि आचार्यदेव भेदज्ञान की है प्रधानता जिसमे — ऐसा यह एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रकाशक शास्त्र समयसार लिख रहे है ।

आगामी गाथा मे वे इस बात को प्रतिज्ञावाक्य के रूप मे भी प्रस्तुत करने जा रहे हैं। अत हे भव्यजीवो । तुम इस विरल महाशास्त्र का गहराई से अध्ययन करना । अत्यन्त विरल यह भगवान आत्मा का प्रतिपादन

---

१ पण्डित आशाधर सागारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक ७

हम सबके महाभाग्य से हमे प्राप्त हो गया है, अत. पूरे आदर-सम्मान के साथ इसका पूरा-पूरा लाभ लेना चाहिए ।

बाते तो सब शास्त्रो मे लिखी रहती हैं, पर उनका मर्म ज्ञानियो के हृदय मे होता है। अत यहाँ ज्ञानियो के सत्समागम की विशेष प्रेरणा दी गई है, उनकी सेवा करने की भी आज्ञा दी गई है ।

देखो, यहाँ आचार्यदेव ने जगत के जीवो का कितना वास्तविक चित्रण किया है कि वे एक तो स्वय कुछ जानते नही हैं, दूसरे आत्मज्ञानी सत्पुरुषो की बात मानते नही हैं । ज्ञानी धर्मात्माओ की बात मानना तो बहुत दूर, उनकी बात ध्यान से सुनते भी नहीं हैं, अपितु उनका विरोध करते है । आचार्यदेव ने 'आत्मज्ञानीनामनुपासनात्' शब्द का प्रयोग किया है — जिसका सीधा-सादा अर्थ होता है कि आत्मज्ञपुरुषो की उपासना नही करने से एकत्त्व-विभक्त भगवान आत्मा की प्राप्ति नही होती ।

आत्मोपलब्धि के पूर्व देशनालब्धि आवश्यक है । देशना की प्राप्ति आत्मज्ञानी धर्मात्माओ के सत्समागम से ही सभव है । यहाँ उपासना का अर्थ कोई पूजा-पाठ करना ही नही है, अपितु उनसे प्रीतिपूर्वक आत्मा की बात सुनना है, समझना है, क्योकि यहाँ साफ-साफ लिखा है कि ज्ञानी धर्मात्माओ की उपासना नहीं करने से आत्मा की बात न कभी सुनी है, न आत्मा का परिचय प्राप्त किया है । इसका तो यही आशय हुआ कि गुरुमुख से आत्मा की बात सुनना, आत्मा का परिचय प्राप्त करना भी आत्मानुभव के लिए आवश्यक है ।

आत्मज्ञानी गुरुओ की सेवा का अर्थ मात्र उनके पैर दबाना नहीं है, अपितु उनकी उचित विनय के साथ, मर्यादा के साथ, उनसे आत्मा की बात सुनना-समझना ही है । यहाँ पर उन आत्मज्ञानी गुरुओ को लेना ही अपेक्षित है कि जो आत्मा की बात करते हो, स्वय समझते हों, उनकी बात नही है, जो आत्मा का नाम सुनते ही उत्तेजित हो जाते हों।

आत्मा की बात का आशय भी एकत्व-विभक्त आत्मा की बात से है।

यहाँ रागी-द्वेषी विकारी आत्मा की बात नही, कर्मो से बधे ससारी आत्मा की बात भी नहीं, पर इनसे भिन्न शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-निराकार एकत्व-विभक्त त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की बात है । इस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मे अपनापन स्थापित करनेवाले, इसमे ही मगन ज्ञानी गुरुओ से एकत्व-विभक्त आत्मा की बात समझने की प्रेरणा इस गाथा मे दी गई है।

आचार्यदेव इसी एकत्व-विभक्त आत्मा को समझाने की प्रतिज्ञा आगामी गाथा मे कर रहे हैं । •

इसलिए शास्त्रों का ही सेवन करना

मेरे जितने दिन शास्त्राभ्यास मे जाते हैं, सो धन्य हैं तथा जो समय परमागम के अभ्यास बिना बीतता है, सो व्यर्थ जाता है । स्वाध्याय बिना शुभध्यान नहीं होता, पाप नही छूटता, कषाये मंद नही होती, ससार, देह, भोगों से वैराग्य नहीं आता । समस्त व्यवहार की उज्ज्वलता एव परमार्थ का विचार आगम के सेवन करने से ही होते है ।

श्रुत के सेवन से जगत मे मान्यता होती है, उच्चता, उज्ज्वलता, आदर-सत्कार प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान ही परमबाधव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है, अविनाशी धन है । स्वदेश-परदेश मे, सुख-दुख मे, आपादा-सम्पदा मे परमशरणभूत सम्यग्ज्ञान ही है । स्वाधीन अविनाशी धन ज्ञान ही है, इसलिए शास्त्रों का ही सेवन करना।

अपनी आत्मा को नित्य ज्ञानदान करो, अपनी सन्तान को तथा शिष्यो को ज्ञानदान ही करो, करोडो रुपयो का दान भी ज्ञानदान के समान नही है। धन तो मद उत्पन्न करता है, विषयो मे उलझाता है, दुर्ध्यान कराता है, संसाररूप अन्धे कुये में डुबोता है, इसलिए ज्ञानदान समान धनदान नही है । जो एक श्लोक, आधा श्लोक, एक पद, मात्रा का भी यदि नित्य अभ्यास करता है, तो वह शास्त्रार्थ का पारगामी हो जाता है । विद्या है, सो परमदेव है ।

जो माता-पिता शास्त्राभ्यास कराते है, वे करोडो का धन देते हैं — ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान को देनेवाले जो गुरु हैं, उनके उपकार समान तीन लोक मे कोई उपकार नहीं है और जो ज्ञान को देनेवाले गुरु का उपकार नही मानता, उसके समान कृतघ्नी—पापी कोई नही है ।

यह जीव ज्ञान के अभ्यास बिना व्यवहार-परमार्थ दोनों में मूढ़ है, अज्ञानी है, इसलिए प्रवचनभक्ति ही परमकल्याण का कारण है । प्रवचन के सेवन बिना मनुष्य पशु समान है । —रत्नकरण्डश्रावकाचार, पृष्ठ २९१-२९२

समयसार गाथा ५

अब इस पाँचवीं गाथा मे आचार्यदेव एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं और पाठकों से अनुरोध करते हैं कि तुम इसके माध्यम से निज भगवान आत्मा का स्वरूप जानकर विशुद्ध आत्मकल्याण की भावना से स्वीकार करना । इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ।

मूल गाथा इसप्रकार है :—

त एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

(हरिगीत)

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन ।
पर नहीं करना छल ग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥५॥

मै उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मै दिखाऊँ तो प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नही करना।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मै अपने सम्पूर्ण वैभव से आत्मा की बात समझाऊँगा और तुम अपने बुद्धिरूप वैभव से सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इसे समझने का प्रयास करना । यदि मैं अपने प्रयास मे सफल होऊँ और भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर सकूँ तो तुम उसे अपने अनुभव से प्रमाणित करना, श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना । यदि मै चूक जाऊँ तो किसी भी प्रकार का छल ग्रहण नही करना ।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के आधार पर लिखे गये भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबडा आचार्य कुन्दकुन्द के निजवैभव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —

"आचार्य आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, पर और अपर गुरु के उपदेश और स्वसवेदन — इन चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञानवैभव

से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं । हे श्रोताओं । उसे अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो, यदि कहीं किसी प्रकरण में भूल जाऊँ तो उतने से दोष को ग्रहण नहीं करना । कहने का आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है, उससे शुद्धस्वरूप का अनुभव करो ।"

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो मात्र इतना ही कहा था कि मै निजवैभव से एकत्व-विभक्त आत्मा की बात समझाऊँगा, पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव यह भी स्पष्ट करते है कि आचार्य कुन्दकुन्द का वैभव क्या था, कैसा था और कैसे उत्पन्न हुआ था ?

जगत तो रुपया-पैसा और धूल-मिट्टी को ही वैभव मानता है । अत वे स्पष्ट करते हैं कि उनका वैभव ज्ञानवैभव था, वह ज्ञानवैभव मुक्तिमार्ग के प्रतिपादन मे पूर्णत समर्थ था और उसका जन्म आगम के सेवन से हुआ था, युक्ति के अवलम्बन से हुआ था, परम्पराचार्य गुरुओ के उपदेश से हुआ था और आत्मा के अनुभव से हुआ था । तात्पर्य यह है कि उन्होने जो बात कही है, वह काल्पनिक नहीं है, उसका आधार जिनागम है, भगवान महावीर की दिव्यध्वनि है । जिनागम का गहरा अभ्यास करके ही उन्होने यह बात जानी है, समझी है । अत उनका यह समयसार ग्रन्थाधिराज भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का सार - द्वादशाग जिनवाणी का सार है।

यह भगवान आत्मा का प्रतिपादन जिनागम के अनुसार तो है ही, पर इसे मात्र पढ़कर नही लिखा गया है, पहले तर्क की कसौटी पर कसकर परखा गया है, युक्तियो के अवलम्बन से उसकी सच्चाई को गहराई से जाना गया है, इतना ही नही, भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक चली आई अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्रमाणित किया गया है और उस भगवान आत्मा का साक्षात् अनुभव भी किया गया है, तब जाकर उसका प्रतिपादन किया गया है ।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का ज्ञानवैभव जिनागम का अभ्यास कर, सद्‌गुरुओ के मुख से उसका मर्म सुनकर, तर्क की कसौटी पर कसकर और

अनुभव करके उत्पन्न हुआ है । इसी ज्ञानवैभव को आधार बनाकर वे यह समयसार ग्रन्थ लिख रहे हैं ।

यद्यपि उन्हें सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन करने और उनकी दिव्यध्वनि श्रवण करने का अवसर भी प्राप्त हुआ था, तथापि अमृतचन्द्र ने उसका उल्लेख न कर भगवान महावीर की आचार्य परम्परा का उल्लेख करना ही उचित समझा । आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की टीका लिखते समय अधिकतम विस्तार 'निजवैभव' शब्द की व्याख्या मे ही दिया है । उनके द्वारा लिखित इस गाथा की टीका का मूल भाव इसप्रकार है –

"मेरे निजवैभव का जन्म लोक की समस्त वस्तुओ के प्रकाशक 'स्यात्' पद की मुद्रावाले शब्दब्रह्म (परमागम) की उपासना से हुआ है, समस्त विपक्षी अन्यवादियो द्वारा गृहीत एकान्तपक्ष के निराकरण मे समर्थ अतिनिष्तुष निर्बाध युक्तियो के अवलम्बन से हुआ है । निर्मल विज्ञानघन आत्मा मे अन्तर्मग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त समस्त आचार्य परम्परा से प्रसाद के रूप मे प्राप्त शुद्धात्मतत्त्व के उपदेशरूप अनुगृह से एव निरन्तर झरते हुए, स्वाद मे आते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा से युक्त स्वसवेदन से मेरे वैभव का जन्म हुआ है ।

इसप्रकार शब्दब्रह्म की उपासना से, निर्बाध युक्तियो के अवलम्बन से, गणधरादि आचार्य परम्परा के उपदेश से एव आत्मानुभव से जन्मे अपने सम्पूर्ण ज्ञानवैभव से मै उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने के लिए कटिबद्ध हूँ, कृतसकल्प हूँ, इस व्यवसाय मे मै बद्ध हूँ, सन्नद्ध हूँ ।

यदि मै भगवान आत्मा को दिखा दूँ, अपने व्यवसाय मे सफल हो जाऊँ तो तुम स्वय के अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि कही स्खलित हो जाऊँ तो तुम्हें छल ग्रहण करने में जागृत नहीं रहना चाहिए ।"

यहाँ जो चूक जाने की बात कही है, वह भगवान आत्मा के स्वरूप में चूकने की बात नहीं है, यह तो प्रतिपादन मे भाषा मे शब्दों के प्रयोग

आदि मे चूकने की बात है । तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में भी एक छन्द आता है, जिसमे इसप्रकार की चर्चा की गई है । वह छन्द इसप्रकार है :—

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफं ।
साधुभिस्तत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥

अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, सन्धि, रेफ आदि के सन्दर्भ में ही भूल की सम्भावना उक्त छन्द में व्यक्त की है और उसी के लिए क्षमा याचना भी की है, क्योंकि शास्त्र तो समुद्र के समान अपार है, उनमे तो बडो-बडों से भी भूल हो सकती है ।

छहढ़ाला में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है —

लघु धी तथा प्रमाद तैं शब्द अर्थ की भूल ।
सुधी सुधार पढ़ो सदा जो पावो भवकूल ॥

उक्त छन्द में भी शब्द और अर्थ की भूल स्वीकार की गई है, भाव की नहीं, क्योंकि ज्ञानी धर्मात्माओ से भाव मे तो भूल हो ही नही सकती है।

भाव के प्रति पूर्णत आश्वस्त होने पर भी आचार्यदेव, ज्ञानी धर्मात्माजन, शब्दादि के सन्दर्भ मे हुई भूल को स्वीकार करने मे सकोच नही करते, क्षमा याचना करने मे भी सकोच नहीं करते, यह उनकी महानता है । इसका अर्थ यह नही है कि भूल होगी ही, यहाँ तो मात्र सम्भावना के आधार पर क्षमा याचना की गई है । इसमें से ऐसा अर्थ निकालना कि इसमे अवश्य कोई गलती होगी, क्योंकि आचार्यदेव स्वय स्वीकार कर रहे है— यह हमारी बुद्धि का अजीर्ण ही होगा । यदि चूक जाऊँ तो इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि बात मात्र सभावना की है । चूक होगी ही — ऐसी बात बिल्कुल नही हैं ।

कुछ लोग ऐसी बातें भी करते हैं कि देखो। आचार्यदेव हमसे क्षमा याचना कर रहे हैं । अरे भाई। आचार्यदेव हमसे क्षमायाचना करें — यह हमारा सौभाग्य नही, दुर्भाग्य है । अरे आचार्यदेव तो तुम्हें सावधान कर रहे हैं कि जिससे तुमसे समझने मे कोई भूल न हो जावे । आजकल कुछ

लोग आचार्यों की भूल निकालने में ही सावधान हैं और अपने को बडा विद्वान मान रहे हैं ।

यहाँ तो आचार्यदेव हल्की-सी डाट पिला रहे हैं कि कहीं कोई अक्षर मात्रा आदि मे चूक हो जावे तो छल ग्रहण नहीं करना, भाव को समझने का प्रयास करना । अरे, भाई । साफ-साफ ही तो लिखा है कि छल ग्रहण करने मे जागृत नहीं रहना ।

इसी प्रकरण मे आचार्य जयसेन तो यहाँ तक लिखते है कि दुर्जनों के समान छल ग्रहण न करना ।[१]

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी का अभिप्राय भी द्रष्टव्य है –

"अनुभव मे तो चूक नही है, परन्तु भाषा मे, छन्द मे या व्याकरण मे कही कुछ कम-बढ़ आ जाय तो छल ग्रहण कर अर्थ का अनर्थ मत कर बैठना । हम जो कहना चाहते हैं, उस भाव को ध्यान में रखकर सही अर्थ, भाव ग्रहण करना, शब्दो को नही पकडना । वस्तु के निर्णय करने मे अनुभव प्रधान है, उससे भगवान पूर्णानन्द का नाथ स्वसवेदन मे आता है । इस रीति से तू प्रमाण करना ।[२]"

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आचार्यदेव के वैभव की उत्पत्ति मे तो आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, परम्पराचार्य गुरु के उपदेश और आत्मा के अनुभव– इन चार बातो को लिया है, पर श्रोताओ से 'अनुभव से प्रमाण करना' – मात्र यही कहा गया है । ऐसा नही कहा कि हे पाठको। तुम भी हमारी इस बात को आगम से मिलान कर, तर्क की कसौटी पर कसकर, परम्पराचार्यों से समझकर प्रमाणित करना ।

उक्त तीन बाते तो हो ही गई हैं, क्योंकि यहाँ आगम के आधार पर ही तो बात कही जा रही है, युक्तियाँ भी भरपूर दी ही जावेगी और आचार्य

---

१ यदि च्युतो भवामि तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ।

२ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ ७९

परम्परा से आगत भी बात है ही, बस शिष्य को तो अब मात्र अनुभव से मिलान करना है, प्रमाणित करना है, अनुभव ही करना है ।

यदि वह समयसार की बात को अन्य आगमो से मिलान करने बैठे, दूसरो से पूछने जाये कि यह सत्य है या असत्य तो समय तो खराब होगा ही, साथ ही यह क्रिया समयसार ग्रन्थाधिराज पर शका करने जैसी भी होगी। अत आत्मार्थियो को तो एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा का स्वरूप जो आचार्य बता रहे है, उसके आधार पर अन्तरोन्मुख होकर मात्र अनुभव ही करना है, अनुभव से ही प्रमाणित करना है । शेष तीनो बाते तो समयसार के स्वाध्याय से सहज ही सम्पन्न हो जावेगी ।

आचार्यदेव ने तीन बातो को तो अत्यन्त सुलभ कर दिया है । अरे भाई। यदि पेट भरना है तो उसके लिए कमाना होगा, भोज्य-पदार्थ बाजार से लाना होगा, उसे बनाना होगा, खाना होगा, चबाना होगा और फिर निगलना भी होगा । इतना तो करना ही होगा, उसके वाद तो भोजन स्वयचालित प्रक्रिया मे चढ जावेगा ।

हाँ, यह तो हो सकता है कि कमाकर कोई दूसरा दे दे, अन्य कोई भोज्य-सामग्री बाजार से ला भी सकता है, बना भी सकता है, खिला भी सकता है, कदाचित् चबाने के स्थान पर कूटकर पीसकर भी दे सकता है, पर निगलना तो स्वय को ही होगा । तुम्हारे भोजन को कोई और निगल तो नही सकता । यदि वह निगलेगा तो भोजन उसके पेट मे जायेगा, तुम्हारे मे नही, उससे उसकी भूख मिटेगी, तुम्हारी नही ।

यहाँ और सब काम तो आचार्यदेव ने कर ही दिये है, पर अनुभव करना तो निगलने के समान है, उसे तो तुम्हे ही करना होगा । जिसप्रकार दूसरे का निगला हुआ भोजन तुम्हे पोषण नही दे सकता, उसीप्रकार दूसरे का अनुभव तुम्हारे काम नहीं आयेगा । आत्मा का अनुभव तो तुम्हे ही करना होगा, तभी तुम्हारा कल्याण होगा । इसलिए आचार्यदेव कहते है कि अनुभव से प्रमाण करना ।

प्रश्न – जब आचार्य कुन्दकुन्द को सीमन्धर परमात्मा के दर्शनो का साक्षात् लाभ प्राप्त हुआ था और उनकी दिव्यध्वनि श्रवण का लाभ भी मिला था तो फिर उनकी देशना को आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से क्यो जोडा ? कुन्दकुन्द की वाणी को सीमन्धर परमात्मा की वाणी से जोडकर बात करने से उनकी वाणी मे विशेष प्रामाणिकता आती, जिससे लोगो को उनकी वाणी का अध्ययन करने मे विशेष रस आता, विशेष उत्साह रहता, विशेष प्रेरणा प्राप्त होती ।

उत्तर – ऊपर-ऊपर से सोचने पर तो ऐसा ही लगता है, पर गभीरता से विचार करने पर आचार्य अमृतचन्द्र का यह प्रयोग अत्यन्त विवेक-सम्मत प्रतीत होता है । कुन्दकुन्द वाणी को सीमन्धर परमात्मा से जोडने पर अनेक प्रश्न खडे हो जाते ।

सर्वप्रथम तो यही कहा जाने लगता कि इसका क्या प्रमाण है कि उन्हें सीमन्धर परमात्मा की दिव्यध्वनि के श्रवण का अवसर प्राप्त हुआ था । ठोस प्रमाण के अभाव मे उनकी वाणी पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाता ।

यदि किसी तरह यह प्रमाणित भी कर दिया जाता तो फिर यह प्रश्न खडा होता कि कौन-कौन से ग्रन्थ उसके पहले लिखे गये और कौन-कौन से बाद मे ? जो पहले लिखे गये थे, उनकी प्रामाणिकता का आधार क्या होता ? यह सिद्ध करना भी आसान नही है कि सभी ग्रन्थ बाद मे लिखे गये हैं ।

जिन आचार्यों को सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनने का अवसर प्राप्त नही हुआ है, उनकी वाणी की प्रामाणिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया जाने लगता । लोगो को ऐसा प्रतीत होने लगता कि जिन्होने सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनी है, उनकी वाणी अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है, जबकि ऐसा कोई भेद जिनागम मे है ही नही और होना भी नहीं चाहिए ।

सीमन्धर परमात्मा के दर्शन एव उनकी वाणी का लाभ मिलना महान सौभाग्य की बात है, पर उसमे आचार्य कुन्दकुन्द को कुछ नया ज्ञान प्राप्त

हुआ था – ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उन्हें पहले से था ही, छठवे-सातवें गुणस्थान की भूमिका के योग्य सम्यक्चारित्र भी था । सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों के बाद भी इससे अधिक कुछ नहीं हुआ था ।

भावलिगी सच्चे मुनिराजों की यह मर्यादा आगम में बताई गई है कि वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे सातवे गुणस्थान में जाते ही है, अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करते ही हैं, आत्मानुभव करते ही हैं, शुद्धोपयोग में जाते ही हैं ।

पचमकाल मे इससे आगे जाना सभव ही नही है। अत यह सुनिश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सीमन्धर परमात्मा के दर्शनो के पूर्व ही उस चरमबिन्दु को स्पर्श कर लिया था, जिस पर पहुँचना पचमकाल मे सभव था ।

यद्यपि यह बात पूर्णत सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द को सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ था, उनकी दिव्यवाणी श्रवण करने का लाभ भी प्राप्त हुआ था, तथापि यदि कोई इसमे शंका करे तो करो, पर इसमे तो शका करने को कोई स्थान ही नही है कि उन्हे हर अन्तर्मुहूर्त मे निज भगवान आत्मा के दर्शनो का लाभ प्राप्त होता था, क्योंकि सभी भावलिगी मुनिराजो को आचार्यो को इसप्रकार का लाभ प्राप्त होता ही है । यही कारण कि उनकी वाणी आत्मानुभव से प्रसूत होती है और उसे आगम और आगमपाठी पूर्वाचार्यपरम्परा का पृष्ठबल प्राप्त रहता है तथा वह वाणी तर्क की तुला पर नपी-तुली होती है ।

इस समयसार ग्रन्थाधिराज मे आचार्य कुन्दकुन्द जिस शुद्धात्म वस्तु का प्रतिपादन करने जा रहे हैं, उसका अनुभव वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे करते थे, उसका रसास्वाद वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे लेते थे, अत उनकी यह वाणी आत्मानुभव से प्रसूत है । मानो वे हर अन्तर्मुहूर्त मे आत्मा को देख-देख कर ही उसका स्वरूप इसमे लिखते रहे हैं ।

शुद्धात्मा के प्रतिपादन के अतिरिक्त जो भी जिनागम मे आता है, उसे तो सुनकर-पढ़कर ही लिखा जाता है, छद्मस्थों द्वारा पुराण-पुरुषो और त्रिलोकादि का वर्णन तो सुनकर या पढ़कर ही जाना जाता है, उनका अनुभव तो सभव है ही नहीं, उन्हे तर्क की कसौटी पर कसना भी सभव नहीं है, क्योंकि वे वस्तुये काल व क्षेत्र से दूरवर्ती हैं, पर आत्मा तो सदा और सर्वत्र हमारे पास ही हैं, पास ही क्या, हम स्वय आत्मा ही तो हैं । यही कारण है कि आत्मा का अनुभव सभव होता है ।

अत समयसार के प्रतिपादन को अन्य पुराणादि व त्रिलोकादि के प्रतिपादन के समान मात्र सुनी-सुनाई बात नही समझना चाहिए । यह तो आचार्यदेव के अनुभव से निकली हुई बात है और हमे भी इसे अनुभव से ही प्रमाण करना है । पुराणादि और त्रिलोकादि की बात को तो अनुभव से प्रमाण करना सभव है ही नही, आत्मा असख्यप्रदेशी है, अनन्तगुण वाला है – यह जानना भी अनुभव से सभव नही है, क्योंकि अनुभव मे प्रदेश प्रत्यक्ष नही होते, अनन्तगुण भी गिनने मे नही आते । अत इन्हे तो आगम प्रमाण के आधार पर स्वीकार करना ही यथेष्ट है, पर्याप्त है, पर आत्मा का अनुभव तो किया ही जा सकता है, अत आचार्यदेव का यह आदेश उचित ही है कि तुम इसे अनुभव से प्रमाण करना, अनुभव करके प्रमाण करना, इसका अनुभव करना, तुम्हारा कल्याण इसी मे है ।

इसप्रकार इस गाथा मे शुद्धात्मा के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करके अब आचार्यदेव मूल विषयवस्तु के प्रतिपादन मे सलग्न होते हैं । •

धर्मपिता सर्वज्ञ परमात्मा के विरह में एक जिनवाणी माता ही शरण है। उसकी उपेक्षा हमे अनाथ बना देगी । आज तो उसकी उपासना ही मानों जिनभक्ति, गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति है । उपादान के रूप में निजात्मा और निमित्त के रूप में जिनवाणी ही आज हमारा सर्वस्व है । निश्चय से जो कुछ भी हमारे पास है, उसे निजात्मा में और व्यवहार से जो कुछ भी बुद्धि, बल, समय और धन आदि हमारे पास हैं, उन्हें जिनवाणी माता की उपासना, अध्ययन, मनन, चिन्तन, संरक्षण, प्रकाशन, प्रचार व प्रसार मे ही लगा देने में इस मानवजीवन एवं जैनकुल में उत्पन्न होने की सार्थकता है ।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १८४

समयसार गाथा ६

पाँचवीं गाथा मे एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के दिखाने की प्रतिज्ञा की गई थी । अत अब इस छठवी गाथा मे उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा का स्वरूप बताते हैं, और यह भी बताते है कि उसे शुद्ध किसप्रकार कहा जाता है । 'वह शुद्धात्मा कौन है ?' — इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही इस गाथा का उदय हुआ है ।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्ध णादो जो सो दु सो चेव ॥६॥

(हरिगीत)

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥६॥

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नही है और प्रमत्त भी नही है, इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है, अन्य कोई नही ।

आचार्य जयसेन की टीका मे इस गाथा मे पाठ भेद पाया जाता है। 'सुद्ध' के स्थान पर 'सुद्धा' शब्द है और 'णादो' के स्थान पर 'णादा' शब्द है । इसप्रकार उनके अनुसार इस गाथा का अर्थ इसप्रकार होता है —

"जो एक ज्ञायकभावरूप शुद्धात्मा है, वह अप्रमत्त भी नही है और प्रमत्त भी नही है — ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते है । उसे चाहे ज्ञायक कहो या शुद्ध कहो एक ही बात है, बस वह तो वही है, ज्ञाता ही है ।"

यहाँ ही यह भी कहा गया है कि 'प्रमत्त' शब्द से आरंभिक छह गुणस्थान ग्रहण करना और 'अप्रमत्त' शब्द से अन्त के आठ गुणस्थान लेना चाहिए । इसप्रकार यहाँ ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा को गुणस्थानातीत कहकर शुद्ध कहा गया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की जो टीका लिखी है, वह अत्यन्त गभीर है, जो गहराई से मथन करने की अपेक्षा रखती है । पण्डित जयचन्दजी छाबडा के अनुसार उसका अर्थ और भावार्थ इसप्रकार है -

"जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से) अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नही है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह ससार की अवस्था मे अनादि बधपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाति कर्मपुद्गलो के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (कषायसमूह के अपार उदयो की) विचित्रता के वश से प्रवर्त्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नही होता (ज्ञायकभाव से जडभावरूप नही होता), इसलिए वह प्रमत्त भी नही है और अप्रमत्त भी नही है, वही समस्त अन्य द्रव्यो के भावो से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है ।

और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते है, तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नही होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नही है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था मे जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था मे भी, दीपक की भाति, कर्त्ता-कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है — स्वय जाननेवाला है, इसलिए स्वय कर्त्ता और अपने को जाना इसलिए स्वय ही कर्म है । (जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था मे भी दीपक है और अपने को—अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था मे भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं, उसीप्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए।)

भावार्थ :— अशुद्धता परद्रव्य के सयोग से आती है । उसमे मूलद्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नही होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन

हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्याय (अवस्था) दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है । इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है । पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, वह कही जडत्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है । जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की सयोगजनित पर्याये है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि मे गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है । द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है । इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है,,उसमे भेद नही हैं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नही है । 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिब जब झलकता है, तब ज्ञान मे वैसा ही अनुभव होता है । तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नही है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है । 'यह जो मै जाननेवाला हूँ सो मै ही हूँ, अन्य कोई नही' — ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्त्ता स्वय ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है । ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वय शुद्ध है । — यह शुद्धनय का विषय है । अन्य जो परसयोगजनित भेद है, वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय है । अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि मे पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है ऐसा आशय समझना चाहिए ।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाए, क्योकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता — दोनो वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्व है, अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के सयोग से होती है ।

अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और ससार में आत्मा क्लेश भोगता है, जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब ससार छूटता है और क्लेश दूर होता है । इसप्रकार दुःख मिटाने के लिये शुद्धनय का उपदेश प्रधान है । अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है, इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए । स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नही रहता । जो वस्तुस्वरूप है, वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है । इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नही है–ऐसा कहा है । वह गुणस्थानो की परिपाटी में छट्‌ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी मे हैं, शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है ।"

इस गाथा मे दृष्टि के विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा मे अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिस आत्मा का ध्यान करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, और जिस आत्मा के जानने का नाम परमशुद्धनिश्चयनय है तथा जो आत्मा परमपारिणामिकभावरूप है, उस भगवान आत्मा का स्वरूप ही यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है । उसी भगवान आत्मा को इस गाथा में ज्ञायकभाव नाम से सबोधित किया गया है ।

परमपारिणामिकभावरूप होने पर भी यहाँ उसे पारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव ही कहा है, क्योंकि पारिणामिकभाव तो सभी द्रव्यो मे समानरूप से पाया जाता है, पर ज्ञायकभाव आत्मा का असाधारण भाव है ।

यह ज्ञायकभाव वही है जिसे पिछली गाथाओ मे एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा कहा गया है । अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि वह एकत्व-विभक्त

ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, वह तो प्रमत्त और अप्रमत्त से परे गुणस्थानातीत है ।

यद्यपि सिद्ध भी गुणस्थानातीत हैं, तथापि यहाँ सिद्धपर्याय की बात नही है; यहाँ तो गुणस्थानों मे रहते हुए भी जो ज्ञायकभाव गुणस्थानरूप नही होता, उसकी बात है । यह ज्ञायकभाव न सिद्ध है और न संसारी है, यह तो ससारी और सिद्ध – दोनो अवस्थाओ मे समानरूप से गुणस्थानातीत है । इसमे न गुणस्थानरूप अवस्था है और न गुणस्थानों के अभावरूप अवस्था है, यह अवस्थारूप है ही नही, यह तो त्रिकाली ध्रुवस्वभावरूप भाव है। यह पर्यायस्वभाव की बात नही है, द्रव्यस्वभाव की बात है ।

यह उस ज्ञायकभावरूप द्रव्यस्वभाव की बात है जो अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतरूप है । यह स्वयसिद्ध है, किसी से उत्पन्न नही हुआ है, अत अनादि सत्तास्वरूप है, इसका कभी नाश नही होगा, अत अनन्त है, क्षण-क्षण मे विनाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिए नित्य उद्योतरूप है, और ज्ञानियो के नित्य अनुभव मे आता है, गुप्त नहीं है, प्रगट है, अत प्रकाशमानज्योति है ।

ऐसा यह भगवान आत्मा मै स्वय ही हूँ । यह किसी अन्य की बात नही है, अपने ही आत्मा की बात है, अपने ही आत्मस्वभाव की बात है। प्रमत्त और अप्रमत्त दशाओ से पार यह त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव मैं ही हूँ, इसमे ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है, अत यही दृष्टि का विषय है । यही ध्यान का ध्येय है, इसमे ही लीन होने का नाम ध्यान है, इसमे ही लगातार अन्तर्मुहूर्त्त तक लीन रहने से केवलज्ञान और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है । मुक्तिमार्ग का मूल आधार यही ज्ञायकभाव है, अत यही एकमात्र परम-उपादेय है ।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि यह ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त क्यों नहीं है ? तात्पर्य यह है कि 'ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है' – इस कथन की विवक्षा क्या है ?

यद्यपि अनादि बंधपर्याय की अपेक्षा यह ज्ञायकभाव ससार अवस्था में पुद्गलकर्मों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो रहा है, तथापि जब द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से देखते है तो शुभाशुभभावो के स्वभावरूप परिणमित नही होने से प्रमत्त भी नही है और अप्रमत्त भी नहीं है ।

ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म और उनके उदय मे होनेवाले शरीरादि सयोगो के साथ ज्ञायकभाव का सबध दूध और पानी की तरह है । यह कहकर दोनो के सबध का स्वरूप स्पष्ट किया गया है । तात्पर्य यह है कि आत्मा और कर्मों का सबध न तो ज्ञान और आत्मा के समान तादात्म्यसंबधरूप ही है और न एक बर्तन मे एकसाथ रखे हुए गेहुँओ और ककणो के समान एकदम औपचारिक ही है, अपितु वे दोनो एक न होकर भी दूध और पानी के समान एकमेक अवश्य हो रहे है । ककण और गेहूँ तो एकदम पृथक्-पृथक् ही है, उनका तो परस्पर मात्र इतना ही सबध है कि वे एक बर्तन मे एकसाथ रखे हुए है, पर दूध-पानी की स्थिति ऐसी नही है, वे पूर्णत एकक्षेत्रावगाह हो गये है, फिर भी है तो पृथक्-पथृक् ही । गेहूँ और कंकणो का तो क्षेत्र भी अलग-अलग है, पर दूध और पानी आकाश के एकक्षेत्र मे ही एकसाथ रह रहे हैं । यद्यपि आत्मा और कर्म दूध-पानी की तरह एकक्षेत्रावगाही होकर भी पृथक्-पृथक् ही है, तथापि बधपर्याय की ओर से देखने पर उन्हें एकरूप ही कहते हैं ।

जिनका अन्त अत्यन्त कठिन है, ऐसी विभिन्न प्रकार की कषायो के उदय के वश होकर, पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले जो अनेकप्रकार के शुभाशुभभाव होते है, उनके स्वभावरूप यह भगवान आत्मा परिणमित नही होता, इसकारण वह प्रमत्त भी नही है और अप्रमत्त भी नही है । यह द्रव्यस्वभाव की बात है ।

शुभाशुभभाव के स्वभावरूप परिणमित होना एकप्रकार से जडरूप परिणमित होना ही है, क्योंकि यह परिणमन जडकर्म के उदय के वश होता है । जिसप्रकार मालिक की आज्ञा से भृत्य द्वारा किए गये कार्य को मालिक

का ही कार्य कहा जाता है; उसीप्रकार जिसके वश जो परिणमन होता है, उस परिणमन को उसी का कहा जाता है । अत. जडकर्म के उदय के वश से हुए शुभाशुभभावों को जडरूप ही कहा जाता है । समयसार गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका मे भी शुभाशुभरूप विभावभावों को जडस्वभावी कहा गया है । यह ज्ञायकभाव उन शुभाशुभभावोरूप परिणमित नही होता, इसीकारण वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नही है ।

जडकर्म के वश का अर्थ यह नहीं समझना कि जडकर्म उसे बलात् अपने वश में करता है, अपितु यह जीव स्वयं अपनी कमजोरी के कारण, पर्यायगत योग्यता के कारण उनके वश होता है । यह एक स्वतत्र प्रकरण है और विशेष स्पष्टीकरण के लिए गहरे मथन की अपेक्षा रखता है । यहाँ इसका विस्तार अभीष्ट नहीं है। आगे यथास्थान इस पर विशेष प्रकाश डाला जावेगा ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ ऐसा नही कहा कि अशुभभावरूप परिणमित नही होने से प्रमत्त नहीं है और शुभभावरूप परिणमित नही होने से अप्रमत्त नहीं है, अपितु ऐसा कहा है कि शुभाशुभभावरूप परिणमित न होने से प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, क्योंकि शुभ और अशुभ दोनो ही भाव प्रमत्तभाव हैं और उनके अभाव मे होनेवाले निर्मलभाव-- शुद्धभाव अप्रमत्तभाव हैं । ज्ञायकभाव न तो मलिनभावोरूप ही है और न पर्यायगत निर्मलभावोरूप ही है, क्योंकि वह परिणमनरूप ही नहीं है, वह तो अपरिणामी तत्त्व हैं ।

वह अपरिणामी ज्ञायकभाव अन्य द्रव्यो और उनके भावों से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

परपदार्थों और उनके भावो से भिन्न होने के कारण यद्यपि यह ज्ञायकभाव सदा शुद्ध ही है, तथापि जबतक यह ज्ञायकभाव अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विषय नही बनता, अनुभूति मे नहीं आता, तबतक उसके शुद्ध होने का लाभ पर्याय में प्राप्त नहीं होता, आत्मा मे अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका

नही जगती, मिथ्यात्व ग्रथि का भेद नहीं होता । अत यह कहा गया है कि वह परभावो से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया करते थे –

"परद्रव्यो और उनके भावो से भिन्न भगवान आत्मा शुद्ध तो है, पर किसको? जिसने जाना, उसको । आत्मा का अनुभव किए बिना ही जो ऐसे ही शुद्ध-शुद्ध कहा करे, उसे ज्ञायकभाव के शुद्ध होने का लाभ प्राप्त नही होता । ज्ञायकभाव तो सदा शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय मे शुद्धता उसके अनुभव से ही आती है ।"

इसप्रकार गाथा के आरंभिक तीन पदो का भाव यह सुनिश्चित हुआ कि यह ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है, गुणस्थानातीत है, परद्रव्य और उनके भावो से सर्वथा भिन्न है, पर के साथ इसका कोई भी सबध नही है, इमीकारण वह पर से भिन्न अनुभव मे आता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

यहाँ पर से भिन्नता को शुद्धि कहा है, अत पर के साथ किसी भी प्रकार के सबध को अशुद्धि कहना अनुचित नही है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमित होता है तो ज्ञेयो के साथ ज्ञायक का ज्ञेय-ज्ञायक सबध भी हो ही गया । परज्ञेयो के साथ सबध सिद्ध हो जाने पर ज्ञायक को अशुद्धता का प्रसग भी उपस्थित होगा ही । ऐसी स्थिति मे उसे शुद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

इसी प्रश्न का उत्तर गाथा के चौथे पद मे दिया गया है, जिसका अर्थ आत्मख्याति मे यह किया गया है कि 'जिसप्रकार दाह्य (ईंधन) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते है, तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नही होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उसके ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नही है ।'

जिस आकार का कोयला, लकडी, कडा (उपला-छाणा) आदि ईंधन होता है, उसे जलानेवाली अग्नि भी उसी आकार को धारण कर लेती है, फिर भी ईंधन मे रहनेवाली अशुद्धि अग्नि मे नहीं आती ।

इसीप्रकार ज्ञेयों को जानने के कारण ही आत्मा को ज्ञायक नाम दिया गया है, तथापि परज्ञेयो से आत्मा का कोई सबध नहीं है, अत उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता भी नहीं होती ।

ज्ञेय तो ज्ञान की पर्याय में सहजभाव से ही झलकते हैं । न तो ज्ञेयों को जानने के लिए ज्ञान ज्ञेयो के पास जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान के पास आते हैं; ज्ञान ज्ञान मे रहता है और ज्ञेय ज्ञेयो मे रहते हैं। दोनो पूर्णत स्वाधीन हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं, दोनो का सहज ही ऐसा स्वभाव है और दोनो अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप स्वय ही सहजभाव से प्रवर्तते हैं, अत दोनो मे निश्चय से कोई सबंध नही है ।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान मे जो ज्ञेयो के आकार भासित होते है, वे सभी आकार मूलत तो ज्ञान के ही हैं, क्योकि ज्ञान ही स्वय उन आकारोरूप परिणमित हुआ है, ज्ञेयो के आकार तो ज्ञेयो मे ही रहे हैं, वे ज्ञान मे आये ही नही है, उनके निमित्त से ज्ञान मे ही ये आकार निर्मित हुए हैं । अत वे आकार ज्ञान के ही है, ज्ञेयो के नही, ज्ञेय तो उनमे मात्र निमित्त हैं। ज्ञान तो ज्ञानाकार ही रहा, ज्ञेयाकार हुआ ही नही, अत उसे अशुद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी के स्पष्टीकरण का भाव इसप्रकार है -

"ज्ञेयो का ज्ञान ज्ञान की अवस्था है, ज्ञेयो की नही । साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा हमारे ज्ञान के ज्ञेय बने, उन्हें जाननेरूप हमारा ज्ञान परिणमित हो, तब भी जो ज्ञान होगा, वह स्वय से ही होगा, पर के कारण नही, तीर्थंकरदेव के कारण नही ।

भगवान को जानते समय भी भगवान नही, तत्सबधी ज्ञान ही जानने मे आता है। पर को जानते समय भी, ज्ञान का परिणमन ज्ञान (स्व) के कारण होता है, ज्ञेय (पर) के कारण नहीं। 'ज्ञेय है'—इसकारण ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकार होता है। — यह बात भी नही है । ज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान की योग्यता के कारण ही ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकार होता है । इसकारण ज्ञान में ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं होती ।[१]"

१ प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १, पृष्ठ ९८

स्वामीजी के स्पष्टीकरण मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि ज्ञान के ज्ञेयाकार परिणमन मे ज्ञेय कारण बने तो ही ज्ञान मे ज्ञेयकृत अशुद्धता आ सकती है, किन्तु ज्ञान का परिणमन तो स्वय अपनी योग्यता से स्वतत्र ही होता है, अत ज्ञान मे ज्ञेयकृत अशुद्धता नही हो सकती । वस्तुत बात तो यह है कि ज्ञान मे ज्ञेयो के जो आकार भासित होते है, वे आकार ज्ञान की ही पर्याये हैं, ज्ञेयो की नहीं, अत यह स्पष्ट है कि ज्ञान ज्ञानाकार ही रहा। – ऐसी स्थिति मे उसमे ज्ञेयकृत अशुद्धता किसप्रकार हो सकती है ?

प्रश्न :– यदि यह बात है तो फिर उसे ज्ञेयाकार क्यो कहा जाता है ?

उत्तर – यह बताने के लिए कि अमुक ज्ञानपर्याय के ज्ञेय अमुक पदार्थ ही बने हैं। पर्वत को जाननेवाले ज्ञान को पर्वताकार इसलिए कहा जाता है कि जिससे यह पता चल सके कि इस ज्ञान का ज्ञेय पर्वत ही बना है, अन्य पदार्थ नही। बस, इसीकारण ज्ञानाकारो को ज्ञेयाकार कहा जाता है और यह कथन मात्र उपचार ही है, जो प्रयोजन विशेष से किया गया है ।

प्रश्न .– आप कुछ भी कहे, पर भगवान आत्मा का ज्ञायक नाम तो ज्ञेयो को जानने के कारण ही पडा है न ?

उत्तर ·– हाँ, यह बात तो सही है, पर ज्ञायकभाव स्वय भी तो एक ज्ञेय है । अत एकान्त से यह कैसे कहा जा सकता है कि परज्ञेयो के जानने के कारण ही आत्मा का नाम ज्ञायक पडा है, स्वज्ञेय को जानने के कारण भी तो उसे ज्ञायक ही कहा जायेगा । इस बात को आचार्यदेव ने दीपक का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है ।

जिसप्रकार दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार वह स्वय को भी प्रकाशित करता है, क्योंकि दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। मात्र पर को प्रकाशित करने के

कारण ही उसे दीपक नही कहा जाता, अपितु स्वय को प्रकाशित करने के कारण भी वह दीपक ही है। ठीक इसीप्रकार यह ज्ञायकभाव मात्र दूसरो को जानने के कारण ही ज्ञायक नहीं है, अपितु स्वय को जानने के कारण भी ज्ञायक ही है ।

निश्चय से कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न नही होते, अभिन्न ही होते है। यहाँ ज्ञाता भी ज्ञायक है और ज्ञेय भी ज्ञायक ही है । यदि ज्ञानक्रिया को कर्ता-कर्म के रूप मे घटित करे तो यह कहा जायेगा कि ज्ञानक्रिया का ज्ञायक ही कर्ता है और जानने मे भी ज्ञायक ही आया, अत वही कर्म भी हुआ । इसप्रकार यहाँ कर्ता-कर्म की अनन्यता के कारण ज्ञेय और ज्ञाता दोनो एक ज्ञायकभाव ही रहा, क्योंकि आत्मा अनुभव मे भी ज्ञायकरूप से ही ज्ञात होता है, जानने के स्वभाववाले के रूप मे ही ज्ञात होता है ।

इसप्रकार जब ज्ञाता और ज्ञेय दोनो ही रूपो मे एक ज्ञायकभाव ही सुनिश्चित हो गया तो फिर परज्ञेय की बात ही कहाँ रही, जिसके कारण ज्ञायकभाव को अशुद्धता का प्रसग आवे। इसीलिए तो कहा है कि यह ज्ञायकभाव उपासित होता हुआ शुद्ध कहा जाता है, अनुभव मे आता हुआ शुद्ध कहा जाता है । अनुभव के काल मे जब ज्ञायकभाव परज्ञेय का ज्ञाता ही नही रहा तो परज्ञेय के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सबध के कारण आनेवाली अशुद्धता का कोई प्रश्न ही नही रहता । यही कारण है कि उपासित होते हुए ज्ञायकभाव को शुद्ध कहा है ।

अत यह ठीक ही कहा है कि जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था मे भी दीपक है और अपने को—अपनी ज्योतिशिखा को प्रकाशित करने की अवस्था मे भी दीपक ही है, अन्य कुछ नही, उसीप्रकार ज्ञेयाकार अवस्था मे जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था मे भी कर्ता-कर्म के अनन्यत्व होने के कारण ज्ञायक ही है।

इसप्रकार गाथा की उत्थानिका मे जो प्रश्न उपस्थित किया गया था कि वह शुद्धात्मा कौन है, उसका समाधान हो गया कि प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायो से रहित ज्ञायकभावरूप से ज्ञात होता हुआ, अनुभव मे आता हुआ आत्मा ही शुद्धात्मा है ।

प्रश्न '— आप इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ आत्मा ही शुद्धात्मा है । 'ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ' का क्या कोई विशेष अर्थ है?

उत्तर '— यह भगवान आत्मा स्वय ज्ञेय भी है और ज्ञायक भी है। तात्पर्य यह है कि यह जानने मे आता है और जानता भी है । जानने मे आने के कारण इसे ज्ञेय कहते हैं और जाननेवाला होने से ज्ञायक कहते हैं । ज्ञेय तो सभी पदार्थ हैं । आत्मा भी ज्ञेय है और आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ भी ज्ञेय है, पर जीवद्रव्य को छोडकर शेष सभी द्रव्य कुछ नही जानते है । इसतरह जानना यह आत्मा का विशेष गुण है, जो अन्य अजीवद्रव्यो मे नही पाया जाता है, यही कारण है कि यह गुण आत्मा को पर से विभक्त करता है, विभक्त करने का हेतु बनता है ।

यह ज्ञायकभाव आत्मा का ऐसा विशेष गुण है कि जानने का काम तो करता ही है, आत्मा की पहिचान का चिन्ह भी बनता है । अनुभूति मे भी जो भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय बनता है, उसमे भी आत्मा के ज्ञायकभाव की ही मुख्यता होती है, ज्ञेयभाव की नही । अत यह कहना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है कि अनुभूति मे भगवान आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात होता है ।

यद्यपि 'ज्ञायकभाव' इस शब्द का वाच्य भगवान आत्मा अनन्तगुणो का अखण्ड पिण्ड है, ज्ञायकभाव में अनन्तगुण व्याप्त हैं, अनुभव मे भी अखण्ड अभेद आत्मा ही आता है, तथापि ज्ञायकता उसकी विशेष पहिचान है, अत यह कहा जाता है कि अनुभूति मे भगवान आत्मा ज्ञायकभाव से ज्ञात होता है ।

गहराई से जानने की बात यह है कि इस गाथा मे व्यवहारोत्पादक होने से भगवान आत्मा के पर के साथ होनेवाले सर्व सबधो का निषेध किया गया है । यहाँ तक कि ज्ञेय-ज्ञायक सबध को भी अशुद्धि कहा गया है। यही कारण है कि ज्ञायकभाव को उपासित होता हुआ, अनुभव मे आता हुआ शुद्ध कहा गया है, क्योकि अनुभव के काल मे आत्मा का पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सबध भी छूट जाता है, वहाँ तो एक शुद्ध ज्ञायकभाव ही अनुभव मे आता है। आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक—इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक भी अभेद ही हो जाते है ।

अगली गाथा मे आचार्यदेव ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणो के भेद को भी व्यवहारोत्पादक होने से अशुद्धि बताकर निषेध करनेवाले है, क्योकि अनुभव के काल मे गुणभेद भी नजर नही आता । अनुभव के काल मे ज्ञायकभाव जैसा नजर आता है, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत वही ज्ञायकभाव शुद्ध कहलाता है – यह स्पष्ट करना भी उक्त कथन का मूल प्रयोजन है।

इसप्रकार इन छठवी-सातवी गाथाओ मे दृष्टि का विषय पूर्णत स्पष्ट हो जाता है। यही कारण है कि इन गाथाओ को समयसार का भी सार कहा जाता है, क्योकि इनमे सम्पूर्ण समयसार का सार आ जाता है। •

अपनी ओर देख । एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख ।। जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दो मे नही समझाया जा सकता, इसे वाणी से नही बताया जा सकता । यह शब्दजाल और वाक्विलास से परे है । यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है । यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है । अत समस्त परपदार्थों, उनके भावों एव अपनी आत्मा मे उठनेवाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर मे झाँक । अन्तर मे देख, अन्तर मे ही देख । देख ।। देख ।।।

—तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

समयसार गाथा ७

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पर के साथ का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी जब व्यवहार होने से अशुद्धि का जनक है, तब तो विकल्पोत्पादक गुणभेद भी व्यवहार होने से अशुद्धि का ही जनक होगा । ऐसी स्थिति मे आत्मा मे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है—ऐसा कहना भी असत्यार्थ होगा?

इसी प्रश्न के उत्तर मे सातवी गाथा का उद्‌भव हुआ है —

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दसण णाण ।
ण वि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो ॥७॥

(हरिगीत)

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं—यह कहा व्यवहार से।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥७॥

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र — ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते है, निश्चय से ज्ञान भी नही है, दर्शन भी नही है और चारित्र भी नही है, ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।

'आत्मा मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण नही है' — यह बात नही है, क्योकि आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तगुणो का अखण्डपिण्ड ही है और ज्ञानादि गुणो के अखण्डपिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते है ।

छठवी गाथा मे ज्ञायकभाव को उपासित होता हुआ शुद्ध कहा था, अनुभूति मे आता हुआ शुद्ध कहा था और अनुभूति निर्विकल्पदशा मे ही होती है। गुणो के विस्तार मे जाने से, भेदो मे जाने से विकल्पो की उत्पत्ति होती है, इसकारण अनुभूति के विषयभूत ज्ञायकभाव मे गुणभेद का निषेध किया जा रहा है । ध्यान रहे, यहाँ ज्ञायकभाव मे गुणो का नही, गुणभेद का निषेध किया गया है ।

गुणभेद अनुपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय का विषय है और ज्ञायकभाव व्यवहारातीत है, इसकारण त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव मे गुणभेद का निषेध

किया गया है । छठवी गाथा मे प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायो का निषेध किया गया था । इसप्रकार अब उपचारित और अनुपचरित दोनो ही सद्भूतव्यवहारनयो का निषेध हो गया है । उपचरित और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयो का निषेध तो तीसरी गाथा की टीका मे ही कर आये हैं और 'परद्रव्यो से भिन्न उपासित होता हुआ' – कहकर छठवी गाथा की टीका मे भी कर दिया है ।

छठवी व सातवी गाथा मे उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय एव अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का भी निषेध कर दिया गया है । इसप्रकार चारो ही प्रकार के व्यवहारनयो का निषेध हो गया है ।

इसप्रकार पर से भिन्न, प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायो से भिन्न एव गुणभेद से भी भिन्न ज्ञायकभाव अनुभूति मे आता हुआ शुद्ध कहलाता है । त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव की शुद्धता का वास्तविक स्वरूप यही है और यही शुद्धस्वभाव दृष्टि का विषय है, ध्यान का ध्येय है और परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत परमपदार्थ है तथा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परमपारिणामिकभाव है, इसे ही यहाँ शुद्ध ज्ञायकभाव शब्द से अभिहित किया गया है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गुणभेद भी तो वस्तु का स्वभाव है, पर्याये भी वस्तु का अश है, उनका मूलवस्तु मे निषेध कैसे किया जा सकता है ?

इसीप्रकार का प्रश्न उठाते हुए पडित जयचन्दजी छाबडा इसी गाथा के भावार्थ मे लिखते है –

"इसप्रकार अभेद मे भेद किया जाता है, इसलिए वह व्यवहार है । यदि परमार्थ से विचार किया जाय तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायो को अभेदरूप से पीकर बैठा है, इसलिए उसमे भेद नही है ।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याये भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु नही, तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ?

उसका समाधान यह है – यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है । अभेददृष्टि मे भेद को गौण करने से ही अभेद भली-भाँति मालूम हो सकता है । इसलिए भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है । यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टि मे भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के विकल्प होते रहते हैं, इसलिए जहाँतक रागादिक दूर नही हो जाते, वहाँतक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नय का आलम्बन ही नहीं रहता ।"

पर्यायार्थिकनय का विषय होने से गुणभेद को भी पर्याय कहते है । गुणो को तो सहभावीपर्याय कहा ही जाता है । यहाँ जयचन्दजी के भावार्थ मे जो पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है, वह गुण और गुणभेद के अर्थ मे ही समझना चाहिए । भावार्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है ।

जयचन्दजी छाबडा के भावार्थ मे उठाये गये प्रश्न और दिये गये उत्तर का जो स्पष्टीकरण स्वामीजी ने किया है, उसका सार इसप्रकार है –

"शिष्य का प्रश्न ठीक से समझना चाहिए । गुणभेदरूप पर्याय द्रव्य का ही अश है, अवस्तु नही । यहाँ अवस्तु का अर्थ परवस्तु समझना चाहिए। जिसप्रकार शरीर परवस्तु है, कर्म परवस्तु है, भेदरूप पर्याय उसप्रकार की परवस्तु नही है । पर्याय तो स्वद्रव्य का ही अश है, अत निश्चय है, उसे व्यवहारनय कैसे कहा जा सकता है ? – यह प्रश्न है शिष्य का।

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया है कि यद्यपि पर्याय वस्तु का ही भेद है, अवस्तु नही, परवस्तु नही, तथापि यहाँ पर्यायदृष्टि छुडाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन होने से अभेद को मुख्य करके उपदेश दिया गया है। भेद को गौण करने पर ही अभेद भली-भाँति प्रतिभासित होता है, इसलिए यहाँ भेद को गौण किया गया है। ध्यान रहे, यहाँ भेद को (भेदरूप व्यवहार को) गौण किया गया है, उसका अभाव नहीं किया गया है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि भेददृष्टि मे निर्विकल्पदशा नही होती, सम्यग्दर्शन नही होता; अपितु राग ही उत्पन्न होता है । अनन्तगुणात्मक, अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्त गुणो को लक्ष्य मे लेने पर राग ही उत्पन्न होता है । नवतत्त्वो के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खडा होगा तो निर्विकल्पदशा नही होगी । वस्तु और उसकी शक्तियाँ — ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नही बनता । दृष्टि का विषय तो अभेद, अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वय पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय मे नही आती, वह भी ध्यान का ध्येय नही बनती ।

प्रश्न — वर्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय मे मिलाना कि नही ?

उत्तर '— वर्तमान पर्याय तो भिन्न रहकर द्रव्य की प्रतीति करती है, वह उसमे कैसे मिल सकती है ? पर्याय अभेद अखण्ड द्रव्य की ओर ढलती है — इस अपेक्षा अभेद कही जाती है, पर वह दृष्टि के विषय मे शामिल नही होती । वह तो भिन्न रहकर द्रव्य को विषय बनाती है ।

निर्मलपर्याय भी बहिर्तत्त्व है, अतस्तत्त्व नही है । उसे भी गौण करके द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने पर निर्विकल्प अनुभव होता है और वही धर्म है ।

यदि कोई कहे कि अशुद्धता (अशुद्धपर्याय) से छूटने की बात तो करते हो, पर शुद्धता (शुद्धपर्याय) से छूटने की बात क्यो नही करते ? उससे कहते है कि वह शुद्धपर्याय द्रव्य पर लक्ष्य करती है, इसलिए उससे छूटने की बात नही करते ।

यदि कोई कहे कि जिसप्रकार गुणी मे गुणो को — गुणभेद को गौण करते हो, उसीप्रकार पर्याय को भी गौण करो, पर उसका यह कहना ठीक नही है, क्योकि पर्याय तो द्रव्य से भिन्न रहकर उसे विषय बनाती है। वह त्रिकाली द्रव्य मे है ही नही—इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

यद्यपि भेद भी वस्तु का अश है और उसका जानना राग का कारण भी नही है, क्योंकि अरहंत परमात्मा द्रव्य-गुण-पर्याय, भेद-अभेद, लोक-अलोक सभी को जानते हैं, पर उनको राग उत्पन्न नही होता, तथापि रागी को भेद के जानने पर राग उत्पन्न होता ही है, विकल्प उत्पन्न होते ही हैं, उनसे पुण्यबध तो होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन की अबधपर्याय उत्पन्न नही होती। इसलिए जबतक रागादिक का अभाव नही होता, तबतक भेद को गौण करके —अभेद का अनुभव करना चाहिए। गुणी मे गुण नहीं हैं—यह बात नही है, पर भेद को गौण करके अभेद का लक्ष्य कराना मूल प्रयोजन है।"[१]

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि स्वामीजी के उक्त कथन मे जहाँ एक ओर निर्मलपर्याय को भी गौण करके द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने की बात कही है, वही दूसरी ओर उसे गुणभेद के समान गौण करने को अनुचित भी बताया गया है । — इसका कारण क्या है?

निर्मलपर्याय का सर्वथा निषेध न हो जाय — इस अर्थ मे 'गौण करके' कहा गया है और वह गुणो के समान दृष्टि के विषय मे शामिल न हो जाय — इसलिए निषेध किया गया है ।

जिसप्रकार दृष्टि के विषय मे गुण अखण्ड अभेदपने शामिल है पर गुणभेद नही, इसीप्रकार यदि कोई यह कहे कि दृष्टि के विषय मे पर्यायभेद को भले ही शामिल न करो, परन्तु अखण्ड अभेदपने पर्यायो को तो शामिल रखो, परन्तु उसका यह कहना उचित नही है, क्योंकि पर्याये तो विषयी है, विषय बनानेवाली है, वे विषय मे शामिल कैसे हो सकती है ?

प्रश्न — प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है । स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नही की जा सकती है । जिसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वय द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र है, उसके गुण उसका भाव है, उसीप्रकार उसकी पर्याये उसका काल है । दृष्टि के विषय मे गुणभेद का निषेध करके भी गुणो को अभेदरूप से रखकर 'भाव' को सुरक्षित कर लिया गया, प्रदेशभेद

---

१ प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १, पृष्ठ ११३ से ११६

का निषेध करके भी प्रदेशो को अभेदरूप से रखकर 'क्षेत्र' को सुरक्षित कर लिया गया, उसीप्रकार पर्यायभेद का निषेध कर पर्यायो को अभेदरूप से रखकर 'काल' को भी सुरक्षित कर लेना चाहिए, पर आप तो पर्यायो का सर्वथा निषेध कर वस्तु को काल से अखण्डित नहीं रहने देना चाहते हैं । इसी समयसार मे आगे भावना भाई गई है कि "न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि'[1] – न मै द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ, मै तो सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ ।" उक्त भावना मे आत्मा को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से पूर्णत अखण्डित रखा गया है ।

उत्तर '– दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य अनादि-अनन्त त्रिकालीध्रुव नित्य, असख्यातप्रदेशी-अभेद, एव अनन्तगुणात्मक-अखण्ड, एक कहा गया है । इसमे जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असख्यप्रदेशी-अभेद कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है, अनन्तगुणात्मक-अखण्ड कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है, उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकालीध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त मे एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य मे स्वकाल का निषेध नही किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायो का ही निषेध किया गया है ।

भूतकाल की पर्याये तो विनष्ट ही हो चुकी है, भविष्य की पर्याये अभी अनुत्पन्न है और वर्तमान पर्याय स्वय दृष्टि है, जो विषयी है, वह दृष्टि के विषय मे कैसे शामिल हो सकती है ? विषय बनाने के रूप मे तो वह शामिल हो ही रही है, क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमे

१ समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में २७०वें कलश के बाद का गद्यांश

एकाकार न हो जाय, तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नही हो सकती । इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल मे द्रव्य के सन्मुख होकर तो द्रव्य से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार का है, गुणो और प्रदेशो के अभेद के समान नही ।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत द्रव्य काल से खण्डित भी नही होता और उत्पन्नध्वसी पर्याय दृष्टि के विषय मे शामिल भी नही होती ।

प्रवचनसार की ९९वी गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका मे प्रदेशो की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामो की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है । तथा दोनो के व्यतिरेको को क्रमश प्रदेश और परिणाम कहकर प्रदेशो के क्रम का कारण प्रदेशो का परस्पर व्यतिरेक है ओर प्रवाहक्रम का कारण परिणामो (पर्यायो) का परस्पर व्यतिरेक है – ऐसा कहा है ।

उक्त तथ्य की गहराई मे जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशो का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामो का व्यतिरेक है तो प्रदेशो और परिणामो का अन्वय – अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह, क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) के कारण होना चाहिए । इसप्रकार यह सहज ही फलित होता है कि वस्तु की समग्रता क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता काल की अखण्डता है। तात्पर्य यह है कि प्रदेशो मे सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह ही काल की अखण्डता है ।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते है, क्योकि नित्यता और अनित्यता मे काल की अपेक्षा ही मुख्य है। अत नित्य का अर्थ, 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नही है, अपितु उसमे प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है । यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अग है।

प्रश्न :— इसप्रकार काल की अखण्डता को सुरक्षित रखने से द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य मे अर्थात् दृष्टि के विषय मे पर्याय शामिल नही हो जावेगी क्या ? क्योकि परिणामो के अन्वय को ही तो काल की अखण्डता कहा जा रहा है । जब परिणामो का अन्वय दृष्टि के विषय में आ गया तो परिणाम ही आ गये समझिये ।

उत्तर — ऐसी बात नही है, क्योकि आचार्य जयसेन अन्वय को गुण का और व्यतिरेक को पर्याय का लक्षण कहते है । उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं —

"अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणम् । व्यतिरेकिण पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्याय लक्षणम् ।"[१]

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अनुस्यूति से रचित प्रवाह गुण है, पर्याय नहीं । काल का अन्वय (अखण्ड प्रवाह) गुण है और काल का व्यतिरेक पर्याय है । इसप्रकार काल की अखण्डता दृष्टि के विषय मे आने पर भी पर्याय उसमे नही आती ।

गुण, प्रदेश और पर्याय क्रमश भाव, क्षेत्र और काल के वाचक है । सामान्य और विशेष द्रव्य के भेद है, एक और अनेक भाव के भेद है, अभेद और भेद क्षेत्र के भेद हैं और नित्य और अनित्य काल के भेद हैं । इनमे द्रव्यदृष्टि का विषय सामान्य, एक, अभेद एव नित्य द्रव्य बनता है और पर्यायदृष्टि का विषय विशेष, अनेक, भेद एव अनित्य पर्याय बनती हैं ।

पर्यायदृष्टि का विषय बनने के कारण विशेष, अनेक, भेद एव अनित्यता को पर्याय कहा जाता है और द्रव्यदृष्टि का विषय बनने के कारण सामान्य, एक, अभेद एव नित्यता को द्रव्य कहा जाता है । यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है और इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है । इस द्रव्य मे सामान्य के रूप मे द्रव्य, एक के रूप मे

---

१ प्रवचनसार ९३वीं गाथा की तात्पर्यवृति टीका

अनन्तगुणो का अखण्डपिण्ड, अभेद के रूप में असख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और नित्य के रूप मे अनन्तानन्त पर्यायो का सामान्याश या वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह शामिल होता है । इसप्रकार दृष्टि के विषय मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अखण्डता - एकता विद्यमान रहती है ।

प्रश्न .— यहाँ तो आपने विशेष को पर्यायार्थिकनय का विषय बताकर दृष्टि के विषय मे से निकाल दिया है, पर ७३वीं गाथा की टीका मे तो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को ही दृष्टि का विषय बताया गया है ।

उत्तर ·— वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शनगुण एव विशेष का अर्थ ज्ञानगुण लिया गया है। अत वहाँ सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य का अर्थ ज्ञान-दर्शन स्वभावी भगवान आत्मा ही है ।

प्रश्न ·— द्रव्य शब्द का प्रयोग तो अनेक अर्थो मे होता है । उनमे दृष्टि का विषय कौन-सा द्रव्य है ?

उत्तर — प्रत्येक वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है । वस्तु के इन चार पक्षो मे द्रव्य भी एक पक्ष है, जो सामान्य-विशेषात्मक होता है । इसप्रकार वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक पक्ष को भी द्रव्य कहते है और मूलवस्तु को भी द्रव्य कहते है । ये दोनो ही द्रव्य द्रव्यदृष्टि के विषय नही बनते है ।

वस्तु के सामान्य और विशेष — ये दो रूप द्रव्य की अपेक्षा है, भेद और अभेद — ये दो रूप क्षेत्र की अपेक्षा है, नित्य और अनित्य — ये दो रूप काल की अपेक्षा हैं और एक और अनेक — ये दो रूप भाव की अपेक्षा है ।

जिसप्रकार गुणो का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशो का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और प्रदेशभेद पर्यायार्थिकनय का, द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का, उसीप्रकार काल (पर्यायो) का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और कालभेद (पर्यायें) पर्यायार्थिकनय का विषय बनता हैं ।

यहाँ जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय है, उन सभी की पर्यायसज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उन सभी की द्रव्यसज्ञा है ।

इसप्रकार अध्यात्म मे गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद (विशेष) एव कालभेद (पर्यायें) — इन सभी की पर्यायसज्ञा ही है और ये सभी पर्यायें द्रव्यार्थिकनय का विषय नही बनती, अत दृष्टि का विषय भी नही बनती ।

अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलो मे सामान्य, अभेद, नित्य और एक — इनकी अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है । बस यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है, इसमे अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एव अनेकता की पर्यायसज्ञा है और इनमे अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है ।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनानेवाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय कहा गया है ।

इस गाथा मे निश्चय-व्यवहार की 'अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार' इस परिभाषा को मुख्य किया गया है । यही कारण है कि यहाँ अभेद को निश्चय और गुणभेद को व्यवहार कहा गया है ।

अग्नि के दाहक, पाचक एव प्रकाशक स्वभाव का उदाहरण देते हुए आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है —

"जिसप्रकार अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है — ऐसा निश्चय करके बाद मे भेदरूप व्यवहारनय से इसप्रकार प्रतिपादित करते है कि वह अग्नि जलाती है, इसलिए दाहक है, पकाती है, इसलिए पाचक है, और प्रकाश करती है, इसलिए प्रकाशक है । इसप्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से वही अग्नि तीन प्रकार की कही जाती है।

उसीप्रकार यह जीव अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धचैतन्यमात्र होते हुए भी भेदरूप व्यवहारनय से इसप्रकार प्रतिपादित करते हैं कि यह जीव जानता

है, इसलिए ज्ञान है, देखता है (श्रद्धान करता है), इसलिए दर्शन है, और आचरण करता है, इसलिए चारित्र है। इसप्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से वही जीव तीन प्रकार का भी कहा जाता है, तीन भेदरूप भी हो जाता है ।"

जिसप्रकार दाहक, पाचक और प्रकाशक – इन गुणो के कारण अग्नि को भी दाहक, पाचक और प्रकाशक कहा जाता है, पर मूलत अग्नि तीन प्रकार की नही, वह तो एक प्रकार की ही है, एक ही है । उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणों के कारण आत्मा को भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा जाय, पर इसकारण आत्मा तीन प्रकार का तो नहीं हो जाता, आत्मा तो एक प्रकार का ही रहता है, एक ही रहता है ।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति मे आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस ज्ञायकभाव के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता होती है – यह बात तो दूर ही रही, इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नही हैं, क्योंकि अनन्त धर्मोवाले एक धर्मी मे जो निष्णात नही हैं – ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का; यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तथापि नाम से भेद करके, – व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो अनन्तपर्यायो को एकद्रव्य पी गया होने से, जो एक है – ऐसे कुछ मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एकस्वभावी तत्त्व का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है, एक शुद्ध ज्ञायक ही है।"

लोक में कर्मोदय से होनेवाले रागादिभावों को आत्मा की अशुद्धि मानी जाती है, व्यवहारनय की प्ररूपणा से जिनवाणी मे भी इसप्रकार का प्ररूपण प्राप्त होता है, पर यहाँ तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद को भी अशुद्धि कहा जा रहा है, तब फिर रागादिरूप अशुद्धि की क्या बात करें ? तात्पर्य

यह है कि जब दृष्टि के विषय मे विकल्पोत्पादक होने से गुणभेद को भी शामिल नही किया जाता है तो रागादिरूप प्रमत्त पर्यायो को शामिल करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता ।

यद्यपि आत्मा तो अनन्तगुणो का अधिष्ठाता एक धर्मी है, सहभावी पर्याय है नाम जिनका ऐसे अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड है, क्योकि धर्म और धर्मी मे, गुण और गुणी मे स्वभाव से ही अभेद होता है, तथापि जो लोग उस अभेद, अखण्ड धर्मी आत्मा को समझते नही है, उन्हे समझाने के लिए आचार्यदेव धर्मो और गुणो के भेद करके समझाते है, पर धर्मो के माध्यम से समझाते तो एक धर्मी को ही हैं, गुणो के माध्यम से भी समझाते तो एक गुणी को ही है । समझाने की इस प्रक्रिया का नाम ही व्यवहार है, पर जब अभेद-अखण्ड आत्मा का अनुभव करते है तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायकभाव ही अनुभव मे आता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का भेद दिखाई नहीं देता । तात्पर्य यह है कि अनुभव मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र भिन्न-भिन्न दिखाई नही देते, एक त्रिकालीध्रुव नित्य, अभेद, अखण्ड भगवान आत्मा ही दिखाई देता है ।

अनुभव मे जो एक अभेद अखण्ड नित्य ज्ञायकभाव दिखाई देता है, वही दृष्टि का विषय है, उसके अश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसी मे अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यदर्शन है, एकमात्र वही ध्यान का ध्येय है, अधिक क्या कहें — मुक्ति के मार्ग का मूल आधार वही ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा है ।

'वह भगवान आत्मा अन्य कोई नही, स्वयं मै ही हूँ' — ऐसी दृढ़-आस्था, स्वानुभावपूर्वक दृढप्रतीति, तीव्ररुचि ही वास्तविक धर्म है, सच्चा मुक्ति का मार्ग है । इस ज्ञायकभाव मे अपनानपन स्थापित करना ही आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयो का एकमात्र कर्त्तव्य है ।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, व्यवहारातीत, परमशुद्ध, निज निरंजन नाथ ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करना ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है और इसी शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वरूप इन छठवी-सातवी गाथाओ मे बताया गया है । अत ये गाथाए समयसार की आधारभूत गाथाए हैं । •

समयसार गाथा ८

यदि चारो ही प्रकार के व्यवहारनय हेय हैं, निषेध करने योग्य हैं, तो फिर एक निश्चय का ही कथन करना चाहिए था, व्यवहार का कथन ही क्यो किया? – इस प्रश्न के उत्तर मे आठवी गाथा का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार है –

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विना दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।

(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ।।८।।

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) भाषा के बिना अनार्य (म्लेच्छ) जन को कुछ भी समझाना सभव नही है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ (निश्चय) का कथन अशक्य है ।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है –

"स्वस्ति शब्द से अपरिचित किसी म्लेच्छ (अनपढ) को यदि कोई ब्राह्मण (पढा-लिखा व्यक्ति) 'स्वस्ति' ऐसा कहकर आशीर्वाद दे, तो वह म्लेच्छ उसकी ओर मेढे की भाति आँखें फाड-फाडकर, टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, क्योकि वह 'स्वस्ति' शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णत अपरिचित होता है । पर जब दोनो की भाषा को जाननेवाला कोई अन्य व्यक्ति या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा मे उसे समझाता है कि स्वस्ति शब्द का अर्थ यह है कि तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो, तब उसका भाव समझ जाने से उसका चित्त आनन्दित हो जाता है, उसकी आँखों मे आनन्द के अश्रु आ जाते है।

इसीप्रकार आत्मा शब्द से अपरिचित लौकिकजनो को जब कोई ज्ञानी धर्मात्मा आचार्यदेव 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित करते हैं तो वे भी आँखे फाड-फाडकर – टकटकी लगाकर देखते ही रहते हैं, क्योंकि वे आत्मा शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णत अपरिचित होते हैं, परन्तु जब सारथी की भाँति व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले अन्य आचार्यदेव या वही आचार्य स्वय ही व्यवहारमार्ग मे रहते हुए आत्मा शब्द का अर्थ इसप्रकार बतलाते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है, तब वे लौकिकजन भी आत्मा शब्द के अर्थ को भली-भाँति समझ लेते हैं और तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अतीव आनन्द से उनके हृदय मे बोधतरगे उछलने लगती हैं ।

इसप्रकार जगत म्लेच्छ के तथा व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है और इसीलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य भी है, तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ तो नही बन जाना चाहिए' – इस वचन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही है ।"

'यदि व्यवहारनय हेय है तो उसका प्रतिपादन ही क्यो किया ?' – शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर मे म्लेच्छ और म्लेच्छ भाषा का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार म्लेच्छ भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना सभव नही है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ को समझाना संभव नही है । अत व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक जानकर उसका उपदेश दिया गया है ।

गाथा मे तो इतनी ही बात कही गई है, पर टीका मे गाथा के भाव को खोलते हुए सावधान भी कर दिया गया है कि म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा के उपयोग को तो उचित माना जा सकता है, पर म्लेच्छ हो जाना कदापि ठीक नहीं है । म्लेच्छ से म्लेच्छ भाषा मे बात कर लेना अलग बात है और म्लेच्छ हो जाना एकदम अलग बात है। इन दोनों के अन्तर को गहराई से पहिचानना चाहिए ।

इसीप्रकार व्यवहारीजनो को व्यवहारनय से समझा देना अलग बात है और व्यवहारी हो जाना एकदम अलग बात है । व्यवहारनय से परमार्थ को समझाने की बात को तो उचित माना जा सकता है, पर व्यवहार को उपादेय मानना कदापि ठीक नही है । व्यवहार को उपादेय मानना तो व्यवहारी हो जाना है, म्लेच्छ हो जाने जैसा है ।

ध्यान रहे – यहाँ व्यवहारनय की हेयोपादेयता पर विचार करते हुए उदाहरण के रूप मे व्यवहारनय का वही भेद लिया गया है, जो ७वी गाथा मे कहा गया था । आत्मा शब्द से अपरिचित व्यक्ति से यदि आत्मा-आत्मा ही कहते रहे तो उसकी समझ मे कुछ भी नही आवेगा, पर जब उसे इसप्रकार समझावे कि जाने सो आत्मा, देखे सो आत्मा, तो उसकी समझ मे आसानी से आ जाता है, परन्तु इसप्रकार के विकल्पो मे उलझे रहने से आत्मा की अनुभूति नही होती और आत्मा की अनुभूति होना ही वास्तविक आत्मज्ञान है। अत आत्मा की प्रारंभिक जानकारी प्राप्त करने के लिए जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा – यह व्यवहार कथन तो उचित ही है, किन्तु आत्मानुभव के लिए नही, क्योंकि आत्मानुभवरूप असली आत्मज्ञान के लिए तो इन विकल्पो से भी पार होना होगा, विकल्पातीत होना होगा, व्यवहारातीत होना होगा । यही बात इस गाथा मे कही गई है ।

इसी गाथा के भावार्थ मे पण्डित जयचदजी छाबडा लिखते हैं –

"इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि यहाँ व्यवहार का आलबन कराते है, प्रत्युत व्यवहार का आलबन छुडाकर परमार्थ मे पहुँचाते हैं – यह समझना चाहिए ।"

इस गाथा की टीका का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात ध्यान मे आती है कि प्रकारान्तर से इसमे सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियो का सकेत भी है ।

गुरु के मुख से 'आत्मा' शब्द सुनने वाले शिष्य को सैनीपचेन्द्रिय होने से क्षयोपशमलब्धि तो है ही, परन्तु कुछ भी समझ मे न आने पर भी

क्रोधित नहीं होना, अरुचि प्रदर्शित नही करना और टकटकी लगाकर देखते ही रहना विशुद्धिलब्धि को सूचित करता है, क्योंकि कषाय की मदता के बिना ऐसी प्रवृत्ति सभव नही है ।

आचार्यदेव द्वारा व्यवहारमार्ग से आत्मा का स्वरूप समझाना कि ' जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' – यह देशनालब्धि है । प्रसन्नचित्त से इस देशना को सुनना, समझने मे चित्त लगाना प्रायोग्यलब्धि को सूचित करता है और गुरुवचन का मर्म ख्याल मे आते ही बोधतरगो का उछलना और आनन्दाश्रुओ का आना करणलब्धि का सूचक है ।

तात्पर्य यह है कि भले ही कोई जीव आत्मा के बारे मे कुछ भी न जानता हो, पर उसमे पात्रता हो, अपने आत्मा को समझने योग्य बुद्धि का विकास हो, कषाये मद हो, आत्मा की तीव्र रुचि हो, आत्मज्ञानी गुरु के प्रति बहुमान का भाव हो, आस्था हो, यथायोग्य विनय हो, उनसे आत्मा का स्वरूप समझने की धगस हो, गहरी जिज्ञासा हो, पूरा-पूरा प्रयास हो तो योग्य गुरु के द्वारा करुणापूर्वक व्यवहारमार्ग से समझाये जाने पर आत्मा की बात उसकी समझ मे अवश्य आती है और यदि पुरुषार्थ की उग्रता हो तो आत्मानुभव भी होता ही है।

इसप्रकार इस गाथा मे पाँचो लब्धियो को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि का भी परिज्ञान करा दिया गया है । पात्र शिष्य और निश्चय-व्यवहारज्ञ आत्मज्ञानी गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। व्यवहारनय की उपयोगिता बताकर जिनवाणी मे उसके प्रयोग का औचित्य भी स्पष्ट कर दिया है और अन्त मे व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही है – यह भी बता दिया है । प्रकारान्तर से आत्मानुभव की प्रेरणा भी दी गई है ।

अत हम सभी का परमकर्त्तव्य है कि निज भगवान आत्मा की बात रुचिपूर्वक सुने, गहराई से समझे, उसपर गभीरता से विचार करें और भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए उग्र पुरुषार्थ करें, क्योंकि मानव जीवन की सफलता आत्मानुभव करने में ही है । •

समयसार गाथा ९-१०

आठवी गाथा मे यह कहा गया है कि परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय भी स्थापित करने योग्य है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक किसप्रकार है ? इस प्रश्न के उत्तर मे ही ९वीं एव १0वी गाथाए लिखीं गईं हैं, जो इसप्रकार है —

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवल सुद्धं ।
त सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥
जो सुदणाणं सव्व जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाण अप्पा सव्व जम्हा सुदकेवली तम्हा॥१0॥

(हरिगीत)

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा ।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥९॥
जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली ।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली ॥१0॥

जो जीव श्रुतज्ञान के द्वारा केवल एक शुद्धात्मा को जानते है, उसे लोक के ज्ञाता ऋषिगण निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते है, उन्हे जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही तो है ।

उक्त गाथाओ के भाव को आत्मख्याति मे आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

"जो श्रुतज्ञान के बल से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं—यह परमार्थ कथन है और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते है, वे श्रुतकेवली है—यह व्यवहार कथन है ।

अब यहाँ विचार करते है कि उपर्युक्त सर्वज्ञान आत्मा है कि अनात्मा?

अनात्मा कहना तो ठीक नही है, क्योंकि जड अनात्मा तो आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, किन्तु उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य नही है । अत अन्य उपाय का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है--यही सिद्ध होता है, इसलिए यह सहज ही सिद्ध हो गया कि सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है । ऐसा सिद्ध होने पर यह पारमार्थिक तथ्य सहज ही फलित हो गया कि जो आत्मा को जानता है, वही श्रुतकेवली है ।

इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी मात्र परमार्थ ही कहा जाता है, अन्य कुछ नही ।

'जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' -- इस परमार्थ का प्रतिपादन अशक्य होने से 'जो सर्वश्रुत को जानते है, वे श्रुतकेवली हैं' -- ऐसा व्यवहारकथन परमार्थ का ही प्रतिपादक होने से अपने को दृढतापूर्वक स्थापित करता है ।"

सातवी गाथा मे जिस अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय की चर्चा की गई थी, यहाँ इन नौवी-दशवीं गाथाओ मे निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली का उदाहरण देकर उसी अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय को परमार्थ (निश्चय) का प्रतिपादक सिद्ध किया गया है ।

श्रुतज्ञान ज्ञानगुण का ही एक प्रकार है या ज्ञानगुण की ही एक पर्याय है । इसप्रकार श्रुतज्ञान (गुण) और आत्मा (गुणी) मे गुण-गुणीरूप तादात्म्यसबध है । अथवा श्रुतज्ञान (पर्याय) और आत्मा (पर्यायवान) मे पर्याय-पर्यायवानरूप तादात्म्यसबध है ।

गुण-गुणी सम्बन्ध और पर्याय-पर्यायवान सम्बन्ध -- इन दोनो को ही जिनागम मे गुणभेद नाम से ही जाना जाता है और इस गुणभेद को विषय बनानेवाले नय को अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहते है ।

'ज्ञानी के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है' -- सातवी गाथा मे समागत उक्त कथन गुणभेदरूप होने से व्यवहारकथन माना गया है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र को गुणरूप मे भी देखा जा सकता है और निर्मलपर्याय

के रूप मे भी देखा जा सकता है, क्योंकि उक्त तीन गुण तो आत्मा मे हैं ही, पर इनके निर्मल परिणमन को भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही कहते हैं। मुक्ति के मार्ग के रूप में सर्वत्र इन गुणो के निर्मल परिणमन को ही लिया गया है ।

गुणो और उनके निर्मल परिणमन को आत्मा का कहना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का ही कथन है । अत सातवीं गाथा के कथन मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र को गुणरूप मे ग्रहण करें, चाहे उनके निर्मल परिणमनरूप मे ग्रहण करें, दोनो गुणभेदरूप होने से अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय ही बनेगे ।

'जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं, वे निश्चयश्रुतकेवली हैं और जो उसी श्रुतज्ञान से द्वादशागरूप सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, वे व्यवहारश्रुतकेवली है' — नौवीं-दशवी गाथा मे कहे गये उक्त शब्दो से भी यही फलित होता है कि जिसने श्रुतज्ञान से आत्मा (गुणी-पर्यायवान) को जाना, वह निश्चयश्रुतकेवली और जिसने द्वादशागरूप सर्वश्रुतज्ञान (गुण-पर्याय) को जाना, वह व्यवहारश्रुतकेवली है ।

आत्मा द्रव्य है और सर्वश्रुतज्ञान उसी आत्मद्रव्य की पर्याय है, अत सर्वश्रुतज्ञान भी प्रकारान्तर से आत्मा ही है । अत सर्वश्रुतज्ञान को जाननेवाले व्यवहारनय ने भी प्रकारान्तर से आत्मा को ही बताया है । अत वह व्यवहार भी परमार्थ का ही प्रतिपादक रहा ।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओ की आत्मख्याति टीका मे निष्कर्ष के रूप मे यह कहा है कि ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाले व्यवहारनय ने भी परमार्थ ही बताया है और परमार्थ-प्रतिपादक के रूप मे उसने अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर लिया है ।

व्यवहारनय ज्ञान (सर्वश्रुतज्ञान) को जानता है और निश्चय ज्ञानी (आत्मा) को । ज्ञान को जाना, सो ज्ञानी को ही जाना, इस नीति के अनुसार व्यवहार परमार्थ का ही प्रतिपादक है ।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका में लिखते हैं –

"जो भावश्रुतरूप स्वसवेदनज्ञान के बल से शुद्धात्मा को जानते हैं, वे निश्चयश्रुतकेवली है और जो शुद्धात्मा का अनुभव नही करते, शुद्धात्मा को नही भाते, केवल द्वादशागरूप बाह्य विषय को ही जानते है, वे व्यवहारश्रुतकेवली है ।

प्रश्न :– तब तो स्वसवेदन के बल से इस काल मे भी श्रुतकेवली होते होगे ?

उत्तर :– नही, ऐसी बात नहीं है, क्योकि पूर्व पुरुषो को जिसप्रकार का शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान होता था, उसप्रकार का स्वसवेदनज्ञान अभी नही है, किन्तु यथायोग्य धर्मध्यान अभी भी है ।"

प्रश्न :– आचार्य जयसेन के उक्त कथन मे यह कहा गया है कि जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते, शुद्धात्मा को नही भाते, केवल द्वादशागरूप बाह्य विषय को ही जानते हैं, वे व्यवहारश्रुतकेवली है, तो क्या द्वादशाग के पाठी श्रुतकेवली आत्मा को भी नही जानते, आत्मानुभवी नही होते ?

उत्तर :– अरे भाई । ऐसी बात नही है, क्योकि आत्मा के अनुभव के बिना तो कोई द्वादशाग का पाठी हो ही नही सकता । जिनागम का यह कथन तो सर्व प्रसिद्ध ही है कि जिन्हे आत्मा का अनुभव नही है, स्वसवेदन ज्ञान नही है, सम्यग्दर्शन नहीं है, उन्हे ग्यारह अग और नौ पूर्व से अधिक का ज्ञान नही हो सकता । जब मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अग और नौ पूर्व से अधिक का ज्ञान नहीं होता तो फिर बारह अग के पाठी द्रव्यश्रुतकेवली– व्यवहारश्रुतकेवली स्वसवेदनज्ञान से रहित कैसे हो सकते हैं ? यह बात गभीरता से विचारने की है ।

श्रुतकेवली कहलाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे आत्मज्ञानी होने के साथ-साथ द्वादशांगश्रुत के पाठी भी हों । यही कारण है कि पचमकाल मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद अनेक स्वसवेदी भावलिगी संत हो गये हैं, पर श्रुतकेवली कोई नही हुआ ।

प्रश्न :— आचार्य जयसेन ने तो साफ-साफ लिखा है कि जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते, शुद्धात्मा को नहीं भाते, केवल द्वादशागरूप बाह्य विषय को ही जानते हैं, वे व्यवहार श्रुतकेवली हैं । उक्त कथन से तो यही प्रतिफलित होता है कि व्यवहारश्रुतकेवली आत्मानुभवी नही होते । इसीप्रकार निश्चयश्रुतकेवली द्वादशाग के पाठी नहीं होते, क्योंकि वे तो स्वसवेदन ज्ञान के बल से मात्र शुद्धात्मा को ही जानते हैं, परन्तु आप यहाँ यह कह रहे है कि प्रत्येक श्रुतकेवली आत्मज्ञानी भी होते हैं, स्वसवेदन ज्ञानी भी होते हैं और द्वादशांग के पाठी भी होते हैं ?

उत्तर :— अरे, भाई । निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली कोई अलग-अलग व्यक्ति थोडे ही होते है, श्रुतकेवली तो एक ही होते हैं और वे द्वादशाग के पाठी और आत्मानुभवी ही होते हैं । आत्मानुभवी होने के कारण उन्हे ही निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और द्वादशाग के पाठी होने के कारण उन्हे ही व्यवहारश्रुतकेवली कहते है ।

इसी बात को इसप्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि श्रुतकेवली निश्चय से निज शुद्धात्मा को ही जानते है, पर को नही, द्वादशागरूप श्रुत को भी नही, तथा वे ही श्रुतकेवली व्यवहार से द्वादशागरूप श्रुत को जानते हैं, आत्मा को नही ।

ध्यान रहे — ये दोनो ही नय एक साथ एक ही समय मे एक ही व्यक्ति पर घटित होते हैं, अन्य-अन्य व्यक्तियो पर नही, अन्य-अन्य समय पर भी नहीं । जो व्यक्ति जिस समय आत्मा को जानने के कारण निश्चयश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसीसमय द्वादशागरूप श्रुत का विशेषज्ञ होने के कारण व्यवहारश्रुतकेवली भी है । इसीप्रकार जो व्यक्ति जिससमय द्वादशाग का पाठी होने से व्यवहारश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसीसमय आत्मज्ञानी होने से निश्चयश्रुतकेवली भी है । उनमे न व्यक्तिभेद है और न समयभेद ही ।

इसीप्रकार के प्रयोग केवली भगवान के बारे मे भी उपलब्ध होते हैं। नियमसार मे लिखा है :—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥
अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्सय किं दूसणं होइ ॥१६६॥
लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी को जानते-देखते है और निश्चयनय से केवली भगवान मात्र आत्मा को ही जानते-देखते हैं ।

केवली भगवान निश्चय से आत्मस्वरूप को ही देखते-जानते है, लोकालोक को नहीं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे तो उसमे क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने मे भी कोई दोष नही है ।

केवली भगवान व्यवहार से लोकालोक को देखते-जानते है, आत्मा को नही । यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है तो उसमे क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने मे भी कोई दोष नही है ।"

इसीप्रकार का भाव कलश मे भी आया है, जो इसप्रकार है —

(वसततिलका)

"जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम्।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद् वक्तीति कोऽपि मुनियो न च तस्स दोषः॥[1]

तीर्थंकर भगवान वास्तव मे समस्त लोक को जानते है और वे एक निर्दोष, निजसुख मे लीन आत्मा को नही जानते—कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से ऐसा कहते हैं तो कोई दोष नहीं है ।"

क्या उक्त कथनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निश्चयकेवली अलग होते है और व्यवहारकेवली अलग, तथा निश्चयकेवली

---

१ नियमसार कलश, २८५

मात्र आत्मा को जानते हैं और व्यवहारकेवली मात्र लोकालोक को ? इसीप्रकार क्या यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि जब केवली निश्चय मे होते है, तब मात्र आत्मा को जानते हैं, और जब व्यवहार मे होते हैं, तब मात्र लोकालोक को जानते हैं ?

नही, कदापि नही, क्योंकि केवली दो प्रकार के होते ही नहीं । एक ही केवली का दो प्रकार से निरूपण किया जाता है – एक निश्चयकेवली और दूसरे व्यवहारकेवली । जो केवली जिससमय आत्मा को जानने के कारण निश्चयकेवली कहे जाते हैं, वे ही केवली उसीसमय लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं, न तो उनमे व्यक्तिभेद होता है और न समयभेद ।

इसीप्रकार निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली पर घटित कर लेना चाहिए ।

उक्त सन्दर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

"अतरंग मे आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नही और जिन-आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं । सो मोक्षमार्ग दो नही हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है । --- इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना । एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – इसप्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है ।"[१]

उक्त कथन मे जिसप्रकार मोक्षमार्ग पर निश्चय-व्यवहार घटित किए गये हैं, उसीप्रकार केवली और श्रुतकेवली पर भी निश्चय-व्यवहार घटित कर लेना चाहिए ।

जिसप्रकार मोक्षमार्ग दो नहीं, उसका निरूपण दो प्रकार से है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, उसीप्रकार केवली या श्रुतकेवली

---

१ पण्डित टोडरमल मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४८-२४९

दो नहीं, उनका निरूपण दो प्रकार से है—एक निश्चयकेवली या निश्चयश्रुतकेवली और दूसरा व्यवहारकेवली या व्यवहारश्रुतकेवली।

जिसप्रकार निश्चय और व्यवहार केवली तेरहवे गुणस्थान और उसके आगे ही होते हैं, उसके पहले नही, उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली भी चौथे से बारहवे गुणस्थान तक ही होते है, उसके पहले नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव न तो द्वादशाग के पाठी ही होते हैं और न स्वसवेदनज्ञानी ही ।

प्रश्न :— शास्त्रो मे जिन श्रुतकेवलियो की बात आती है, वे तो सभी मुनिराज ही थे, फिर चतुर्थ गुणस्थान से श्रुतकेवली होते है — यह आप कैसे कहते हैं ?

उत्तर :— सौधर्मादि इन्द्र, लौकातिकदेव एव सर्वार्थसिद्धि आदि के अहमिन्द्र भी तो द्वादशाग के पाठी और आत्मानुभवी होते है । तथा यह तो आप जानते ही हैं कि देवगति मे सयम नही होता, अत उनका गुणस्थान भी चौथे से ऊपर नही होता ।

यद्यपि यह सत्य है कि चौथे से बारहवे गुणस्थान तक के जीव श्रुतकेवली हो सकते हैं, तथापि इसका आशय यह कदापि नही कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक का प्रत्येक व्यक्ति श्रुतकेवली होता है, क्योंकि श्रुतकेवली होने के लिए स्वसवेदनज्ञानी और द्वादशाग का पाठी — दोनो शर्तें पूरी होना अनिवार्य है ।

प्रश्न :— जब चौथे गुणस्थान में श्रुतकेवली हो सकते है तो फिर तो पंचमकाल मे भी श्रुतकेवली हो सकते होगे, क्योंकि पचमकाल मे भी छठवे-सातवे गुणस्थान मे झूलनेवाले भावलिंगी सत हो सकते हैं, होते भी हैं ।

उत्तर :— हाँ, हाँ, क्यों नही ? अवश्य हो सकते हैं, क्योंकि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पचमकाल मे ही हुए हैं । उनके पहले भी अनेक श्रुतकेवली पचमकाल मे हुए हैं, जिनकी चर्चा जिनागम मे है । अत 'अभी श्रुतकेवली

नही होते' — आचार्य जयसेन के इस वाक्य में समागत 'अभी' शब्द का अर्थ अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद का काल ही लेना चाहिए।

'अभी श्रुतकेवली नहीं होते' — इस कथन से यह अर्थ निकालना कि अभी स्वसवेदन के बल से आत्मानुभव भी नही होता — यह भी ठीक नहीं है और आत्मानुभव होता है, इसलिए अभी निश्चयश्रुतकेवली भी होते है — यह भी ठीक नही है । जब भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद कोई श्रुतकेवली हुआ ही नहीं तो फिर अभी भी भावश्रुतकेवली होने की बात कहाँ टिकती है?

इसीप्रकार जब पचमकाल के अन्त तक भावलिगी मुनिराज-आर्यिकाए एव सम्यग्दृष्टि-अणुव्रती श्रावक-श्राविकाये होना सुनिश्चित है तो फिर अभी स्वसवेदनरूप आत्मज्ञान का अभाव कैसे हो सकता है ?

यद्यपि यह सत्य है कि पचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनिराज एवं ज्ञानी श्रावक होगे, पर इतने मात्र से किसी व्यक्तिविशेष को ज्ञानी श्रावक या भावलिगी सत तो नही माना जा सकता है, क्योंकि उसमें अपने पद के अनुरूप सभी पात्रताओ का होना भी तो आवश्यक है। पर जो यह मानते है कि इस समय आत्मानुभव — स्वसवेदनज्ञान हो ही नही सकता, उन्हें तो आत्मानुभव होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता और आत्मानुभव के बिना उनका सच्चा साधु होना या सच्चा ज्ञानी श्रावक होना भी संभव नहीं है।

निष्कर्ष के रूप मे हम येह कह सकते हैं कि श्रुतज्ञान का अधिकतम विकास द्वादशांग का पाठी होना ही है, इसकारण ही उसे यहाँ सर्वश्रुत कहा है । 'जो आत्मा सर्वश्रुत को जानता है, वह श्रुतकेवली है' — का अर्थ यह हुआ कि जिस आत्मा का श्रुतज्ञान पूर्णत विकसित हो गया है, वह श्रुतकेवली है ।

पूर्ण विकसित श्रुतज्ञान मे स्व-पर सभी द्रव्य श्रुतज्ञान के विषय बनते हैं । अत यह सुनिश्चित हुआ कि सर्वश्रुत को जाननेवाले श्रुतकेवली ने सभी को जाना है । उसके इस सर्वज्ञान मे स्व को जानने के कारण वह निश्चयश्रुतकेवली कहा जाता है और द्वादशांगरूप पर को जानने के कारण वह व्यवहारश्रुतकेवली कहलाता है ।

ऐसी ही अपेक्षा केवली पर भी घटित होती है । स्व-पर सभी को जाननेवाले केवली भगवान स्व को जानने के कारण निश्चयकेवली और लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं । ऐसा भी कहा जाता है कि केवली भगवान निश्चय से आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से सर्वज्ञ ।

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

"जो जीव ज्ञान की पर्याय मे छहों द्रव्य, उनके गुण-पर्याय—सभी ज्ञेयो को जानते हैं, उन्हें व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं । आत्मा को जाने—यह बात यहाँ नहीं ली है। यह तो पहले निश्चयश्रुतकेवली मे आ गई । यहाँ तो एक समय की ज्ञान की पर्याय, जिसमे सर्वश्रुतज्ञान यानि बारह अग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, उसे जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं।[1]

जिस ज्ञान की पर्याय मे बारह अंग जाने जाते हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय जाने जाते हैं, सभी पर जाना जाता है, वह ज्ञान ज्ञेयरूप नही है, किन्तु आत्मरूप (ज्ञानरूप) है । यह ज्ञान अनात्मरूप ज्ञेयों का नही, बल्कि आत्मा का ही है । इससे अन्य पक्ष का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है – यह बात सिद्ध होती है । 'ज्ञान की पर्याय वह आत्मा' – यह व्यवहार है और यह व्यवहार परमार्थ आत्मा को बताता है ।[2]

इसप्रकार परमार्थ को समझानेवाला व्यवहार है तो अवश्य, परन्तु व्यवहार अनुसरण करने योग्य नही है । एक त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुसरण करना ही परमार्थ है । – ऐसा जानकर व्यवहार का आश्रय छोडकर एक परमार्थ का ही अनुभव करो ।[3]"

उक्त सम्पूर्ण अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपने को दृढतापूर्वक स्थापित करता है, तथापि वह अनुसरण करने योग्य नहीं है । •

---

१ प्रवचनरत्नाकार (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ १२८

२ वही, पृष्ठ १३१

३ वही, पृष्ठ १३२

समयसार गाथा ११

दशवी और ग्यारहवी गाथा के बीच मे आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीका मे दो गाथाये उपलब्ध होती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक सस्कृत टीका मे नही है । उनमे पहली गाथा रत्नत्रय की भावना की गाथा है, जो १६वीं गाथा के समान ही है । जिसप्रकार का भाव इस गाथा मे है, ठीक उसीप्रकार का भाव १६वी गाथा मे भी पाया जाता है । दूसरी गाथा मे रत्नत्रय की भावना का फल बताया गया है ।

उक्त दोनो गाथाओ पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीका तो है ही नही, आचार्य जयसेन की टीका मे भी विशेष कुछ नही है, मात्र गाथा का सामान्य अर्थ कर दिया गया है । वे दोनो गाथाएँ मूलत इसप्रकार हैं –

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावण आदे ।।
जो आदभावणमिण णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ।।

ज्ञान मे, दर्शन मे एव चारित्र मे भावना करना चाहिए, किन्तु ये तीनो आत्मा ही है। अत आत्मा की ही भावना करना चाहिए ।

जो मुनि तत्परता के साथ इस आत्मभावना को करता है, वह सम्पूर्ण दु खो से थोडे ही काल मे मुक्त हो जाता है ।

उक्त दोनो गाथाओ मे कोई नई विषयवस्तु तो है ही नहीं, इनके नही होने पर भी विषयवस्तु के क्रम मे कोई व्यवधान नही आता, अपितु इनके बिना ही क्रमिक विकास सही बैठता है, जैसा कि आगामी गाथा की उत्थानिका से स्पष्ट है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब व्यवहारनय ने परमार्थ प्रतिपादकत्व के कारण अपने को भली-भाँति स्थापित कर लिया है, तो फिर उसका अनुसरण क्यो नही करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही ११वीं गाथा का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार है –

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।११।।

(हरिगीत)

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आत्मा सम्यक् लहे ।।११।।

'व्यवहारनय अभूतार्थ है शुद्धनय भूतार्थ है' – ऐसा कहा गया है । जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है ।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति मे लिखते है –

"सब ही व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत (अविद्यमान–असत्य) अर्थ को प्रगट करते है । एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत (विद्यमान–सत्य) अर्थ को प्रगट करता है ।

अब इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है । यद्यपि प्रबल कीचड के मिलने से आच्छादित है निर्मलस्वभाव जिसका, ऐसे समल जल का अनुभव करनेवाले एव जल और कीचड के विवेक से रहित अधिकाश लोग तो उस जल को मलिन ही अनुभव करते है। वे यह नही समझ पाते कि स्वभाव से तो जल निर्मल ही है, मलिनता तो मात्र सयोग मे है। इसकारण वे जल को ही मलिन मान लेते हैं। तथापि कुछ लोग अपने हाथ से डाले हुए कतकफल के पडने मात्र से उत्पन्न जल-कीचड के विवेक से, अपने पुरुषार्थ से प्रगट किये गये निर्मलस्वभाव से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते है ।

तात्पर्य यह है कि अधिकाश लोग तो पकमिश्रित जल को स्वभाव से मैला मानकर वैसा ही पी लेते हैं और अनेक रोगों से आक्रान्त हो दुखी होते हैं, किन्तु कुछ समझदार लोग अपने विवेक से इस बात को समझ लेते है कि जल मैला नही है, इस मैले जल मे जल जुदा है और मैल जुदा है तथा कतकफल के जरिये जल और मैल को जुदा-जुदा किया जा सकता है । अत वे स्वय के हाथ से कतकफल डालकर मैले जल को इतना निर्मल बना लेते हैं कि उसमे अपना पुरुषाकार भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है और उस जल को पीकर निरोग रहते हैं, आरोग्यता का आनन्द लेते हैं ।

इसीप्रकार प्रबल कर्मोदय के सयोग से सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है जिसका, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले एव आत्मा और कर्म के विवेक से रहित, व्यवहार-विमोहित चित्तवाले अधिकाश लोग तो आत्मा को अनेकभावरूप अशुद्ध ही अनुभव करते हैं, तथापि भूतार्थदर्शी लोग अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के प्रयोग से उत्पन्न आत्मा और कर्म के विवेक से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्ध ही अनुभव करते हैं, एक ज्ञायकभावरूप ही अनुभव करते है, अनेकभावरूप नही करते ।

यहाँ शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है, इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते है वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते है, अन्य नही। इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा को देखनेवालो को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही है।"

यह गाथा अत्यन्त गभीर है, इसमे जिनागम का सार तो भरा ही है, जिनागम को समझने की विधि भी बता दी गई है । इस गाथा के मर्म को समझने के लिए अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है, क्योंकि जरासी चूक हो जाने पर बहुत बडी हानि हो सकती है ।

इस गाथा व इस पर लिखी आत्मख्याति टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त भावार्थ लिखते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबडा हमें सचेत करते हैं तथा अनेक

तथ्यो से परिचित भी कराते हैं । अत उनके भावार्थ को अविकलरूप से देखना आवश्यक है, जो इसप्रकार है —

"यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है । जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो, उसे अभूतार्थ कहते हैं । शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि मे भेद दिखाई नही देता, इसलिए उसकी दृष्टि मे भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। ऐसा तो है नही कि भेदरूप कोई वस्तु ही न हो । यदि ऐसा मानेगे तो जिसप्रकार वेदान्तमतवाले भेदरूप अनित्य को मायास्वरूप कहते हैं, अवस्तु कहते है और अभेद-नित्य-शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते है, वैसा हमे भी मानना होगा । ऐसा मानने पर सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टित्व का प्रसग आवेगा। इसलिए ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है और प्रयोजन के अनुसार नयो को यथायोग्य मुख्य व गौण करके कथन करती है ।

गहराई से समझने की बात यह है कि प्राणियो को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते है । जिनवाणी मे भी व्यवहार का उपदेश हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल तो ससार ही है । शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नही और उसका उपदेश भी विरल है । इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका ही उपदेश प्रधानता से दिया है और कहा है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसके आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि होता है। इसको जाने बिना जबतक जीव व्यवहार मे मग्न है, तबतक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यग्दर्शन नही हो सकता है। — ऐसा जानना ।"

यह गाथा और इसकी टीका के पढने से एक बात एकदम स्पष्ट होती है कि सभीप्रकार के व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है ।

अब यहाँ एक जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न होती है कि जिन्हें यहाँ अभूतार्थ कहा जा रहा है, वे व्यवहारनय कितने प्रकार के हैं, कौन-कौन हैं, शुद्धनय क्या है ?

इन सबका स्वरूप जाने बिना समयसार को समझ पाना सभव नहीं लगता, क्योकि समयसार मे इन नयो का प्रयोग बार-बार आता है ।

वस्तुत बात तो यह है कि नयो को समझे बिना जिनागम के किसी भी शास्त्र का मर्म समझ पाना सभव नहीं है, क्योकि समस्त जिनागम नयो की भाषा मे ही निबद्ध है, तथापि समयसार को समझने के लिए कम से कम अध्यात्मनयो का स्वरूप समझना तो अत्यन्त आवश्यक है ।

नयो के स्वरूप को विस्तार से जानने के लिए 'परमभावप्रकाशक नयचक्र'* का स्वाध्याय किया जाना चाहिए, क्योकि उसमे सभी प्रकार के नयो का आगम के आलोक मे विस्तार से निरूपण है । अध्यात्मनयो के सदर्भ मे भी उसमे सर्वांग निरूपण है ।

प्रश्न — उसका स्वाध्याय तो जिज्ञासु पाठक करेगे ही, पर अध्यात्मनयो की सामान्य जानकारी तो यहाँ भी दी जानी चाहिए ?

उत्तर — जो नय आत्मा के स्वरूप को समझने-समझाने मे ही काम आते है, उन्हे अध्यात्मनय कहते है ।

अध्यात्मनय दो प्रकार के होते हैं — (१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय।

व्यवहारनय भी दो प्रकार का होता है — (१) असद्भूतव्यवहारनय और (२) सद्भूतव्यवहारनय।

ये असद्भूत और सद्भूत व्यवहारनय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते है । इसप्रकार कुल मिलाकर व्यवहारनय चार प्रकार का हो गया —

* परमभावप्रकाशक नयचक्र डॉ हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

(१) उपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनय (२) अनुपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनय (३) उपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय (४) अनुपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय ।

निश्चयनय भी दो प्रकार का होता है– (१) अशुद्धनिश्चयनय और (२) शुद्धनिश्चयनय।

शुद्धनिश्चयनय तीन प्रकार का होता है–(१) एकदेशशुद्धनिश्चयनय (२) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्‌शुद्धनिश्चयनय और (३) परमशुद्धनिश्चयनय।

इसप्रकार कुल मिलाकर निश्चयनय भी चार प्रकार का हो गया ।

ये चार प्रकार के व्यवहार और चार प्रकार के निश्चय – कुल मिलाकर आठ नय अध्यात्मनय कहे जाते हैं ।

जो नय सयोग का ज्ञान कराये, उसे असद्‌भूतव्यवहारनय कहते है । शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना इसी नय का काम है ।

स्त्री-पुत्रादि, मकानादि तथा ग्राम-नगरादि दूरस्थ परपदार्थो को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना उपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनय है और आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहनेवाले शरीर को अथवा आत्मा और शरीर के मिले हुए रूप को आत्मा कहना, आत्मा का कहना, आत्मा को उसका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना अनुपचरित-असद्‌भृतव्यवहारनय है ।

अभेद-अखण्ड आत्मा को गुणो और पर्यायो के भेद करके समझना, समझाना, कहना, सद्‌भूतव्यवहारनय का कार्य है ।

अल्पविकसित एव विकारी पर्यायो को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना उपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय का कथन है और अभेद आत्मा मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद करना तथा पूर्ण विकसित निर्मलपर्यायो को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना अनुपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय का कार्य है ।

रागादि विकारी भावो से आत्मा को अभेद बताना अशुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को मिथ्यादृष्टि कहना इसी नय का काम है । एकदेशशुद्धपर्याय से

आत्मा को अभेद बताना एकदेशशुद्धनिश्चयनय है । आत्मा को सम्यग्दृष्टि, देशसयमी कहना इसी नय का कथन है। पूर्णशुद्धपर्याय से आत्मा को अभेद बताना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है । आत्मा को केवलज्ञानी कहना, सिद्ध कहना इसी नय का कथन है ।

आत्मा को सम्पूर्ण शुद्धाशुद्धपर्यायो से रहित, गुणभेद से भिन्न, अभेद-अखण्ड-नित्य जानना-कहना परमशुद्धनिश्चयनय है । त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव इसी परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है ।

परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत यह ज्ञायकभाव ही दृष्टि का विषय है और इसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

इस गाथा मे जो शुद्धनय शब्द का प्रयोग है, वह परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ मे ही है। यहाँ एकमात्र उसे ही भूतार्थ कहा गया है, शेष निश्चयनय भी परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही हो जाते है, अत किसी अपेक्षा वे भी अभूतार्थ हो जाते है, परन्तु परमशुद्धनिश्चयनय सदा ही भूतार्थ रहता है । जैसा कि छठवी गाथा के भावार्थ मे छाबडाजी ने लिखा है कि 'अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि मे पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहार ही है — ऐसा आशय समझना चाहिए ।'

गाथा मे स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है । अत यह सुनिश्चित ही है कि जिस नय की विषयभूत वस्तु मे अपनापन स्थापित करने से सम्यग्दर्शन होता है, वही नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है । उक्त आठ नयो मे एक परमशुद्धनिश्चयनय ही ऐसा है, जिसके विषयभूत आत्मद्रव्य मे अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन होता है, अत वह ही वास्तविक शुद्धनय है और वही भूतार्थ है, शेष सभी नय अभूतार्थ हैं ।

प्रश्न — उक्त व्याख्या के अनुसार तो निश्चयनय के आरंभिक तीन भेद भी अभूतार्थ हो गये । तो क्या अशुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय एव साक्षात्शुद्धनिश्चयनय भी अभूतार्थ हैं ?

उत्तर .— 'शुद्धनय' शब्द के प्रयोग से यह तो सुनिश्चित ही है कि उसमे अशुद्धनिश्चयनय को शामिल करना अभीष्ट नही है । उक्त संदर्भ मे आचार्य जयसेन का कथन द्रष्टव्य है, जिसमे वे आचार्य अमृतचन्द्रकृत अर्थ को स्वीकार करते हुए इस गाथा का एक और भी अर्थ करते हैं, जो इसप्रकार है —

"द्वितीय व्याख्यान से व्यवहारनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ इन दो भेदोरूप कहा गया है । न केवल व्यवहारनय ही भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है, अपितु शुद्धनिश्चयनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है।"

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि शुद्धनिश्चयनय के भी अनेक भेद होते है तथा उनमे कुछ भूतार्थ और कुछ अभूतार्थ होते हैं । शुद्धनिश्चयनय के जिस भेद का विषय पर और पर्याय से रहित, गुणभेद से भिन्न, अभेद, नित्य, एक भगवान आत्मा बनता है, वह ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

वैसे तो प्रत्येक नय अपने प्रयोजन की दृष्टि से भूतार्थ होता है अर्थात् अपने प्रयोजन को सिद्ध करने की अपेक्षा भूतार्थ है, पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एकमात्र शुद्धनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के आश्रय से ही होती है, अत इस दृष्टि से एकमात्र वही भूतार्थ है ।

प्रश्न — आचार्य जयसेन के उक्त कथन से तो व्यवहार भी भूतार्थ हो गया?

उत्तर — व्यवहार भी कथंचित् भूतार्थ है । यह बात चौदहवीं गाथा मे पाँच उदाहरणो के माध्यम से पाँच बोलो मे की गई है, जिसकी विस्तृत चर्चा यथास्थान होगी ही । इस गाथा के भावार्थ मे पण्डित जयचन्दजी छाबडा ने भी यह बात स्पष्ट कर दी है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्राणियो को व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है और इसका उपदेश भी बहुत दिया जाता है, जहाँ देखो इसी की चर्चा होती है । जिनवाणी

मे भी यथास्थान इसकी पर्याप्त चर्चा प्राप्त होती है । इतना सब होने पर भी अन्तत उसका फल तो ससार ही है, उसके आश्रय से मुक्ति प्राप्त होना सभव नही है ।

शुद्धनय का पक्ष अनादि से अभीतक आया नही है और उसका उपदेश भी विरल है। अत उसी की मुख्यता से निरूपण है और यहाँ उसी का आश्रय लेने की प्रेरणा दी गई है, उसी को भूतार्थ कहा गया है ।

"निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुख प्राय सर्वोऽपि ससार ॥५॥

निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है और प्राय सम्पूर्ण ससार भूतार्थ के ज्ञान से विमुख ही है ।"

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के उक्त कथन मे आचार्य अमृतचन्द्र ने निश्चयनय को भूतार्थ कहा है और समयसार की ग्यारहवी गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। निश्चयनय मे तो निश्चयनय के चारो ही भेद गर्भित होते है, पर शुद्धनय मे अशुद्धनिश्चयनय नही आता। इसप्रकार इन दोनो कथनो मे अन्तर दिखाई देता है । अत प्रश्न यह है कि यहाँ किस नय को ग्रहण किया जाय ?

दोनो कथनो मे कोई अन्तर नही है । दोनो ही स्थानो पर परमशुद्धनिश्चयनय ही ग्रहण करना चाहिए, क्योकि सम्पूर्ण ससार परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव से ही विमुख है और उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।

उक्त सन्दर्भ मे आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विचार द्रष्टव्य है :—

"पचाध्यायी में तो ऐसा कहा है कि जो निश्चयनय के दो भेद करते हैं, वे सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर हैं । वही बात यहाँ कहते है कि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ध्रुव-अखण्ड-एकरूप भूतार्थ सत्वस्तु या उसको जाननेवाला ज्ञानाश ही शुद्धनय है और वह एक ही है, उसके दो भेद नही हैं । पर्यायसहित

या रागसहित आत्मा को जानना सो निश्चय – ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ त्रिकाली ध्रुव एकरूप शुद्ध ज्ञायकभाव ही सत्यार्थ है और उसे जाननेवाला शुद्धनय भी एक ही है, उसके दो भेद नही है ।[1]"

प्रश्न – मूल गाथा मे व्यवहारनय को अभूतार्थ एव शुद्धनय को भूतार्थ कहा गया है, परन्तु अशुद्धनिश्चयनय को न भूतार्थ कहा है और न अभूतार्थ ही कहा है, उसके बारे मे तो आचार्यदेव मौन है । फिर भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे निश्चयनय को भूतार्थ कहा है । चूँकि अशुद्धनिश्चयनय निश्चयनय का ही एक भेद है, अत उसे भूतार्थ कहना ही ठीक लगता है।

उत्तर – नही, यह ठीक नही है, क्योकि मूल गाथा मे जब शुद्धनय शब्द है तो उसमे अशुद्धनय को कैसे शामिल किया जा सकता है । दूसरे बृहद्द्रव्यसग्रह की गाथा ४८ की टीका मे आता है कि '**स चाशुद्धनिश्चय शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव** – और वह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है।'

उक्त कथन के आधार पर अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार होने से अभूतार्थ ही है, भूतार्थ नही।

परमशुद्धनिश्चयनय को छोडकर निश्चयनय के शेष भेद किसप्रकार व्यवहारपने को प्राप्त होकर अभूतार्थ हो जाते है – इस पर विस्तार से विचार करते हुए परमभावप्रकाशक नयचक्र मे जो लिखा गया है, वह इसप्रकार है –

"बात यहाँ तक ही समाप्त नही होती, क्योंकि जब शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार हो जाता है, तो शुद्धनिश्चय के प्रभेदो मे भी ऐसा क्यो नही हो? अर्थात् होता ही है । परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय एव एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही कहे जाते है ।[2]"

---

१ प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १, पृष्ठ १३९

२ परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ८२

'न तथा' शब्द से सबका निषेध करनेवाला परमशुद्धनिश्चयनय कभी भी किसी भी नय द्वारा निषिद्ध नही होता, अत वह कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नही होता, किन्तु वह सबका निषेध करके स्वय निवृत्त हो जाता है और निर्विकल्प आत्मानुभूति का उदय होता है । वास्तव मे यह आत्मानुभूति की प्राप्ति ही इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का फल है ।[१]"

उक्त मथन से यह स्पष्ट है कि दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का प्रतिपादक शुद्धनय (परमशुद्धनिश्चयनय) ही एक भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी नय व्यवहार होने से अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । शुद्धनय अथवा शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, अत एकमात्र वही उपादेय है ।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है ।

अत सुखाभिलाषी को, आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने मे जम जाना चाहिए रम जाना चाहिए । सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नही । अपना सुख अपने मे है, पर मे नही परमेश्वर मे भी नही, अत सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकाक्षा से झाँकना निरर्थक है । तेरा प्रभु तू स्वय है । तू स्वय ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुखस्वरूप है सुख ही है । सुख को क्या चाहना ? चाह ही दुख है । पचेन्द्रिय के विषयो मे सुख है ही नही । चक्रवर्ती की सम्पदा पाकर भी यह जीव सुखी नही हो पाया ज्ञानी जीवों की दृष्टि मे चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नही है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर मे समा जाते है। अन्तर मे जो अनन्त आनन्दमय महिमावन्त पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नही ।

धर्म परिभाषा नही, प्रयोग है । अत आत्मार्थी को धर्म को शब्दो मे रटने के बजाय जीवन मे उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ५२

---

१ परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ९७

समयसार गाथा १२

अब यह प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि जब शुद्धनय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, व्यवहार के आश्रय से नही, इसलिए प्रत्यगात्मदर्शियो के लिए व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है तो फिर इस व्यवहारनय का उपदेश ही क्यो दिया जाता है?

इस प्रश्न के उत्तर मे बारहवीं गाथा मे कहा गया है कि यह व्यवहारनय भी किन्ही-किन्ही को कभी-कभी प्रयोजनवान होता है, इसलिए यह सर्वथा निषेध करने योग्य नही है और इसलिए जिनवाणी मे इसका उपदेश भी दिया गया है ।

यह व्यवहारनय किनको और कब प्रयोजनवान है ? – यह बताना ही बारहवीं गाथा का मूल प्रतिपाद्य है । मूल गाथा इसप्रकार है –

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहि ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

(हरिगीत)

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट है ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उन्हे शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव मे स्थित है, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नही पहुँच सके हैं, साधक-अवस्था मे ही स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति मे इसप्रकार स्पष्ट करते है –

"जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्टभाव का अनुभव करते हैं, उन्हे प्रथम, द्वितीय आदि पाको की परम्परा

से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यम भावो का अनुभव नही होता । इसलिए उन्हें तो शुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एव अचलित-अखण्ड एक स्वभावरूप भाव का प्रकाशक शुद्धनय ही सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका समान होने से जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान है, परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाको की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यमभाव का अनुभव करते है, उन्हे अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्टभाव का अनुभव नही होता है । इसलिए उन्हे अशुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एव भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भावो का प्रकाशक व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाओ के समान होने से जानने मे आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है, क्योकि तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है ।

कहा भी है –

'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयो मे से एक को भी मत छोडो, क्योकि व्यवहारनय के बिना तीर्थ का एव निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा ।'

उक्त सन्दर्भ मे परमभावप्रकाशक नयचक्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

"इसमे कहा गया है कि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जावेगा अर्थात् तत्त्व की प्राप्ति नही होगी । यहाँ 'तीर्थ' का अर्थ उपदेश और 'तत्त्व' का अर्थ शुद्धात्मा का अनुभव है । उपदेश की प्रक्रिया प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न होती है, तथा प्रतिपादन करना व्यवहार का काम है, अत व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने से तीर्थ का लोप हो जावेगा – ऐसा कहा है । शुद्धात्मा का अनुभव निश्चयनय के विषयभूत अर्थ मे एकाग्र होने पर होता है, अत निश्चयनय

को छोडने पर तत्त्व की प्राप्ति नही होगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नही होगा – ऐसा कहा है । द्वादशाग जिनवाणी मे व्यवहार द्वारा जो भी उपदेश दिया गया है, उसका सार एकमात्र आत्मा का अनुभव ही है। आत्मानुभूति ही समस्त जिनशासन का सार है ।

इसप्रकार इस गाथा मे यही कहा गया है कि उपदेश की प्रक्रिया मे व्यवहारनय प्रधान है और अनुभव की प्रक्रिया मे निश्चयनय प्रधान है ।

आत्मा के अनुभव मे व्यवहारनय स्वत गौण हो गया है । इसलिए आत्मानुभव के अभिलाषी आत्मार्थी निश्चयनय के समान ही व्यवहार को उपादेय कैसे मान सकते हैं ? व्यवहार की जो उपादेयता है, वे उसे भी अच्छी तरह जानते हैं । ज्ञानीजन जब व्यवहारनय को हेय या असत्यार्थ कहते है तो उसे गौण करके ही असत्यार्थ कहते है, अभाव करके नही – यह बात ध्यान मे रखने योग्य है ।

गाथा की प्रथम पंक्ति मे कहा गया है कि यदि तुम जिनमत को प्रवर्तना चाहते हो तो व्यवहार-निश्चय को मत छोडो । 'प्रवर्तना' शब्द के दो भाव होते है । एक तो तीर्थ-प्रवर्तन और दूसरा आत्मानुभवन । 'तीर्थप्रवर्तन' का अर्थ जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है । अत यदि जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है तो वह व्यवहार द्वारा ही सभव होगा, अनिर्वचनीय या 'न तथा' शब्द द्वारा वक्तव्य निश्चयनय से नही, किन्तु जिनमत का वास्तविक प्रवर्तन तो आत्मानुभवन ही है, अत आत्मानुभूतिरूप जिनमत का प्रवर्तन तो निश्चयनय के विषयभूत अर्थ मे मग्न होने पर ही सभव है। यहाँ उपदेश के विकल्परूप व्यवहारनय को कहाँ स्थान प्राप्त हो सकता है ?

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ आज भी प्रवर्तित है, क्योकि उनकी वाणी मे निरूपित शुद्धात्मवस्तु का अनुभव ज्ञानीजन आज भी करते हैं -- यह व्यवहार और निश्चय की अद्भुत सधि है । अनुभव की प्रेरणा की देशनारूप व्यवहार और अनुभवरूप निश्चय की विद्यमानता व्यवहार-निश्चय

को नही छोडने की प्रक्रिया है, जिसका आदेश उक्त गाथा में दिया गया है।

दूसरे प्रकार से विचार करें तो मोक्षमार्ग की पर्याय को तीर्थ कहा जाता है तथा जिस त्रिकाली ध्रुव निज शुद्धात्मवस्तु के आश्रय से मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है, उसे तत्त्व कहते हैं, अत व्यवहार को नहीं मानने से मोक्षमार्गरूप तीर्थ और निश्चयनय को नही मानने से निज शुद्धात्मतत्त्व के लोप का प्रसग उपस्थित होगा।[1]"

इस सदर्भ मे आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

"जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय का प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयो को मत छोडो । 'व्यवहार नही है' – ऐसा मत कहो । व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ मे जो असत्य कहा है, वह त्रिकालध्रुव निश्चय की विवक्षा मे गौण करके असत्य कहा है, बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है । व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायगा। चौथा, पॉचवॉं, छठवॉं आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय है, वे हैं – मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं । चौदह गुणस्थान द्रव्य मे नही हैं – यह तो ठीक, किन्तु पर्याय मे भी नहीं है – ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायेगा । ऐसा होने पर जीव के ससारी और सिद्ध – ऐसे जो दो विभाग पडते है, वह व्यवहार भी नही रहेगा ।

भाई । बहुत गभीर अर्थ है । भाषा तो देखो । यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है । त्रिकाली ध्रुव चैतन्यघन वस्तु निश्चय है । यदि उस वस्तु को नहीं मानेगे तो तत्त्व का नाश हो जाएगा और तत्त्व के अभाव मे, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप

---

१ परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ७०-७१

तीर्थ, वह भी नही रहेगा । इस निश्चयरूप वस्तु को नही मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनो का नाश हो जायेगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ मानना । जबतक पूर्णता नही हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनो होते है। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वय मे पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये । उसमे तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।[१]"

प्रश्न :— 'परमभाव मे स्थित पुरुषो को शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव मे स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।' — गाथा मे समागत उक्त कथन मे मूल समस्या यह है कि गुणस्थान परिपाटी के अनुसार किन्हे परमभाव मे स्थित माना जाय और किन्हे अपरमभाव मे स्थित माना जाय ?

उत्तर :— यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण एव प्रथम-द्वितीय पाको की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण का उदाहरण देकर बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है, तथापि गुणस्थानो का स्पष्ट उल्लेख न होने से चित्त मे थोडी-बहुत अस्पष्टता बनी ही रहती है ।

तात्पर्यवृत्ति मे आचार्य जयसेन भी 'परमभाव' शब्द की व्याख्या मे तो गुणस्थानो का स्पष्ट उल्लेख नही करते, परन्तु 'अपरमभाव' की व्याख्या मे जो कुछ लिखते है, वह मूलत इसप्रकार है —

"केषा जे ये पुरुषा दु पुन अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिता। कस्मिन् स्थिता ? भावे जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थ।"

तात्पर्यवृत्ति के उक्तांश का अर्थ वीरसागरजी महाराज इसप्रकार करते है —

---

१ प्रवचनरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १६२-६३

"जो पुरुष अपरमभाव मे स्थित है, अर्थात् चतुर्थगुणस्थानवर्ती असयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की अपेक्षा से जो सरागसम्यग्दर्शन-लक्षण शुभोपयोग मे स्थित हैं अथवा षष्ठ-सप्तम गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-अप्रमत्त सयत (सकलसयम) की अपेक्षा भेदरत्नत्रयलक्षण शुभोपयोग मे — जीवपदार्थ मे स्थित है, उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान है ।"[१]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि शुभाशुभभावरूप अशुद्धभाव अपरमभाव है और शुद्धोपयोगरूप शुद्धभाव परमभाव है । यह भी स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान से सिद्ध अवस्था तक परमभाव और अपरमभाव को यथास्थान यथायोग्य घटित किया जा सकता है ।

उक्त कथन से तो यही प्रतीत होता है कि चतुर्थ गुणस्थान के पहले निश्चय और व्यवहारनय नही होते । निश्चय और व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान के अश है, अत उनका यथार्थरूप मे होना सम्यग्दृष्टि के ही सभव है। तथापि इस सन्दर्भ मे इसी गाथा के भावार्थ मे व्यक्त जयचन्दजी छाबडा के विचार भी द्रष्टव्य हैं —

"जहाँतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, वहाँतक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है — ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनो को कहनेवाले श्रीजिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग मे प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है, और जिन्हे श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई — उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोडनेरूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति और पचपरमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालो की सगति एव विशेष जानने के लिए शास्त्रो का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग मे स्वय प्रवर्तन करना और दूसरो को प्रवर्तन कराना — ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अगीकार करना प्रयोजनवान है ।

---

१ समयसार श्रीसमयसार प्रकाशन समिति, शुक्रवार पेठ, सोलपुर-२, पृष्ठ १७

व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो हुई नहीं है, इससे उल्टा अशुभोपयोग मे आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर ससार मे ही भ्रमण करेगा ।

इसलिए शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है — ऐसा स्याद्वादमत मे श्रीगुरुओ का उपदेश है ।"

उक्त सन्दर्भ मे पण्डितप्रवर टोडरमलजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं —

"निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेषो से रहित अभेद वस्तु मात्र ही है और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेषो से सहित अनेक प्रकार है । वहाँ जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभव करते है, उनको तो शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्ध निश्चयनय है, वही कार्यकारी है, किन्तु जो स्वानुभव दशा को प्राप्त नही हुए है अथवा स्वानुभव दशा से छूटकर सविकल्प दशा मे आ गये है — इसप्रकार अनुत्कृष्टदशा को प्राप्त है, अशुद्धस्वभाव मे स्थित है, उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान है ।[1]"

उक्त कथनो मे अत्यन्त स्पष्टरूप से उल्लेख है कि जबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई है, तबतक व्यवहारमार्ग मे प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है। तथा जिन्हें दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति तो हो गई है, पर साक्षात् प्राप्ति नही हुई है, उन्हें भी व्यवहारमार्ग मे प्रवर्तन करना-कराना प्रयोजनवान है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन के पूर्व मे भी व्यवहारनय प्रयोजनवान है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का गहराई से अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमभाव एवं अपरमभाव को निम्नांकित तीन प्रकार से घटित कर सकते हैं —

---

१ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पीठिका, पृष्ठ ९-१०

१ आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष श्रद्धा की अपेक्षा परमभाव मे स्थित हैं। अत उन्हें देशनालब्धिरूप व्यवहार का कोई विशेष प्रयोजन नही रहा, क्योकि समझने योग्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को वे समझ चुके है, अनुभव भी कर चुके है ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपरमभाव मे स्थित हैं । वे आत्मा को नही समझते हैं। अत उन्हें आत्मा का स्वरूप समझानेवाला व्यवहारनय प्रयोजनवान है। आठवी गाथा मे म्लेच्छ के उदाहरण से इस बात को भली-भाँति स्पष्ट किया गया है । वहाँ जिसने 'आत्मा' शब्द भी नही सुना है — ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि शिष्य लिया है । उसे समझाने के लिए ही व्यवहार के उपदेश की उपयोगिता बताई है। निश्चय-व्यवहार सबधी यह प्रकरण भी वही से आरंभ हुआ है, जो यहाँ बारहवीं गाथा मे आकर समाप्त हो रहा है ।

अत यहाँ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अपरमभाव मे लेना अनुचित प्रतीत नही होता ।

मुख्यरूप से समझाना तो अज्ञानी को ही है और व्यवहार की उपयोगिता भी समझने-समझाने मे ही अधिक है । आखिर व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक ही तो है, अत निश्चय को नही जाननेवाले को ही व्यवहारमार्ग से समझना-समझाना प्रयोजनवान है ।

२ शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि, पचमगुणस्थानवर्ती अणुव्रती एव षष्ठगुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराज शुभोपयोग के काल मे अपरमभाव मे स्थित है और अनुभव के काल मे तथा सप्तमादि-गुणस्थानो मे स्थित शुद्धोपयोगी परमभाव मे स्थित हैं ।

३ छद्मस्थ और वीतरागी-सर्वज्ञ की अपेक्षा बारहवे गुणस्थान तक के सभी ज्ञानी अथवा सभी ज्ञानी-अज्ञानी छद्मस्थ अपरमभाव मे स्थित हैं और तेरहवें गुणस्थान से लेकर आगे के सभी वीतरागी-सर्वज्ञ परमभाव में स्थित हैं, क्योकि अन्तिमपाक से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान शुद्धता तो उन्ही पर घटित होती है ।

प्रश्न :— शुद्धोपयोगियो को शुद्धनय का उपदेश देने की क्या आवश्यकता है, अनुभव के काल मे वे उपदेश को ग्रहण भी कैसे करेगे ? तथा सम्यग्दृष्टियो को व्यवहार से समझाने की क्या आवश्यकता है, क्योकि वे वस्तुतत्त्व को समझकर ही सम्यग्दृष्टि हुए है । अत प्रश्न यह है कि शुद्धोपयोगियो को शुद्धनय और सम्यग्दृष्टियो को व्यवहारनय किसप्रकार प्रयोजनवान होगे ?

उत्तर :— यहाँ निश्चय-व्यवहार के उपदेश देने की विवक्षा नही है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि शुद्धि और अशुद्धि की कहाँ-कहाँ क्या-क्या स्थिति रहती है । किस भूमिका मे कितनी शुद्धता रहती है और कितना राग रहता है — यहाँ तो बस यही बताना अभीष्ट है । जिस भूमिका मे जितना राग—व्यवहार रहता है, उस भूमिका मे वह राग—व्यवहार उस काल जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान है । इसीप्रकार जिस भूमिका मे जितनी शुद्धि विद्यमान रहती है, वह भी मात्र जानने मे आती हुई प्रयोजनवान है ।

उक्त सदर्भ मे आत्मख्याति मे समागत निम्नाकित कथन विशेष ध्यान देने योग्य है —

"शुद्धनय परिज्ञायमान प्रयोजनवान् । व्यवहारनयो परिज्ञायमान तदात्वे प्रयोजनवान्।

शुद्धनय जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान है और व्यवहारनय उसकाल जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान है ।"

उक्त कथन मे शुद्धनय को जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान कहा है और व्यवहारनय को उसकाल जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान कहा है। इसमे उपदेश देने और ग्रहण करने की बात ही कहाँ आती है ? उक्त दोनो नयो के विषय तो यथास्थान जाने हुए ही प्रयोजनवान है ।

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी ने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह इसप्रकार है —

"जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्णज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें तो शुद्ध आत्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य

है । देखो, शुद्धनय का आश्रय (शुद्धनय के विषय का आश्रय) तो समकिती को होता है । यहाँ तो शुद्धनय (केवलज्ञान होने पर) पूर्ण हो गया है, उसका आश्रय करने को अब रहा नही, इस अपेक्षा से यहाँ बात की है। जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए, अर्थात् जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए तथा जिन्होने चारित्र की सम्पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर लिया, उन्हें तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय करने का प्रयोजन रहा नही, उन्हें तो शुद्धनय मात्र जानने योग्य है । अर्थात् इसका फल जो कृतकृत्यपना आया, उसका केवलज्ञान मे ज्ञान हुआ । पूर्ण निर्विकल्पदशा जिसे हो गई, वह उसे मात्र जानता है । अधूरी दशा में होनेवाला राग उसे नहीं है, इसलिए व्यवहार भी उसके नहीं रहता ।[1]

जो जीव अपरमभाव मे स्थित है अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक-अवस्था मे ही स्थित हैं, उन्हें व्यवहार द्वारा भी उपदेश करने योग्य है । सम्यग्दर्शन हुआ है, किन्तु सम्यग्ज्ञान-चारित्र पूर्ण नही हुए । सर्वज्ञता की प्रतीति हुई है, किन्तु सर्वज्ञपद प्रगट नही हुआ है । – ऐसी साधक दशा मे जो स्थित हैं, वे 'व्यवहारदेशिताः' अर्थात् व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं । शब्द तो 'व्यवहारदेशिता' है, किन्तु इसका वाच्यार्थ तो यह है कि उसकाल मे जो कुछ व्यवहार है, वह जानने योग्य है । प्रतिसमय साधक को शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता घटती है । जिस समय जितनी शुद्धता-अशुद्धता है, वह मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है ।[2]"

शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है और व्यवहारनय उसकाल जाना हुआ प्रयोजनवान है। शुद्धनय का विषयभूत आत्मा तो सदा ही जानने योग्य है, पर वह परमभाव को प्राप्त पुरुषो को ही जानने में आता है । व्यवहारनय के विषयभूत अणुव्रत-महाव्रतादि एवं भक्ति-स्वाध्याय आदि के शुभभाव

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ १५८
२ वही, पृष्ठ १५८-५९

भूमिकानुसार जिस-जिस समय जो-जो आते हैं, वे सब उस-उस समय जाने हुए प्रयोजनवान है । तात्पर्य यह है कि 'वे करने योग्य है, उपादेय हैं' — ऐसी बात नही है, अपितु वे निचली भूमिका मे आये बिना नहीं रहते, अत उन्हे वीतरागभाव से अपने ज्ञान के ज्ञेय बना लेना चाहिए । न तो उनमे उपादेयबुद्धि रखनी चाहिए और न उनके आ जाने से आकुल-व्याकुल ही होना चाहिए, बल्कि ऐसा जानना चाहिए कि चौथे-पाँचवे एव छठे गुणस्थान की भूमिका मे ऐसे भावो का होना सहजवृत्ति ही है । आगे भी जहाँतक छद्मस्थ अवस्था है, वहाँतक अबुद्धिपूर्वक यथायोग्य रागभाव विद्यमान रहते है, पर वे भी मात्र उसकाल जाने हुए प्रयोजनवान है । वे करने योग्य नही है, पर होते अवश्य हैं । अत उन्हें निर्विकारभाव से जानकर सहजभाव धारण करना ही श्रेष्ठ है ।

इसप्रकार इस बारहवी गाथा मे यह कहा गया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, तथापि वह भी कभी-कभी किसी-किसी को प्रयोजनवान है ।

'निश्चय-व्यवहारनयो की उपयोगिता पर समुचित प्रकाश डालने के उपरान्त अब स्याद्वादांकित जिनवचनो मे रमण करनेवाले सत्पुरुष ही समयसार को प्राप्त करते हैं' — इसप्रकार के भावो से भरा हुआ मगल कलश स्थापित करते है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की विषयवस्तु को लेकर अध्यात्मरस से सरावोर २७८ छन्द लिखे हैं, जो 'आत्मख्याति' नामक सस्कृत टीका के ही अभिन्न अग हैं । आत्मख्याति टीकारूपी स्वर्णहार मे वे मुक्तामणियों की भाँति यथास्थान जडे हुए हैं । इसप्रकार इस आत्मख्याति टीका मे विविधवर्णी छन्दो और टीका का मणि-कांचन सयोग हो गया है ।

विषयवस्तु के अनुसार विविधवर्णी छन्दो में रचित और विभिन्न अलंकारो से अलकृत ये छन्द 'कलश' नाम से जाने जाते हैं । आत्मख्याति से सुसज्जित समयसाररूपी मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर पर आरोहित ये कलश अपने-आप मे अद्भुत है, बेजोड हैं ।

आत्मख्याति में तो वे तिल मे तेल की भाँति समाहित हैं ही, वे पृथक्रूप से स्वतत्र ग्रन्थ के रूप मे भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं । आत्मख्याति सस्कृत टीका की भाषाटीका लिखनेवालो ने तो उनका अनुवाद किया ही है, किन्तु उनपर स्वतत्ररूप से भी टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें आचार्य शुभचन्द्रकृत 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नामक सस्कृत टीका, कलशटीका नाम से प्रसिद्ध पाण्डे राजमलजी की बालबोध नाम की हिन्दी टीका एवं 'अध्यात्म-अमृतकलश' नाम से प्रसिद्ध पण्डित जगन्मोहनलालजी की 'स्वात्मप्रबोधनी' नाम की हिन्दी टीका उल्लेखनीय हैं ।

इनके अतिरिक्त पाण्डे राजमलजी की बालबोध टीका को आधार बनाकर पण्डित बनारसीदासजी ने इन कलशो की विषयवस्तु को हिन्दी के विविध छन्दो मे सुसज्जित कर 'नाटक समयसार' के रूप मे प्रस्तुत किया है, जो अपने-आप मे बेजोड कृति है और विगत चार शताब्दियों से अध्यात्मप्रेमी समाज का कण्ठहार बनी हुई है ।

आरभ के तीन कलश तो आत्मख्याति के मगलाचरण एव ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा आदि के रूप मे ही है, जिनका अनुशीलन हम आरंभ मे ही कर चुके हैं। अब आरंभ की बारह गाथाओ के बाद चार कलश आये हैं। इनमे से एक तो इन बारह गाथाओ के उपसहाररूप है और तीन कलश आगामी गाथा की उत्थानिका के रूप मे है ।

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ।।

मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ।।४।।

जो पुरुष निश्चय और व्यवहार – इन दो नयो के प्रतिपादन मे दिखाई देनेवाले विरोध को ध्वस करनेवाले, स्याद्वाद से चिन्हित जिनवचनो मे रमण करते हैं, स्वय पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का वमन करनेवाले वे पुरुष कुनय से खण्डित नही होनेवाले, परमज्योतिस्वरूप अत्यन्त प्राचीन अनादिकालीन समयसाररूप भगवान आत्मा को तत्काल ही देखते है, अर्थात् उसका अनुभव करते हैं ।

उक्त कलश मे यह कहा गया है कि जो पुरुष जिनवचनो मे रमण करते हैं, वे तत्काल ही आत्मा का अनुभव करते हैं । यहाँ जिनवचनो मे रमण करने का अर्थ मात्र जिनवाणी का पठन-पाठन करना ही नही है, अपितु जिनवाणी मे प्रतिपादित शुद्धनय के विषयभूत त्रिकालीध्रुव, नित्य, अखण्ड, अभेद, एक निज भगवान आत्मा मे अपनापन स्थापित करना, उसे ही निज जानना और उसमे जमना-रमना है, क्योकि आत्मानुभव करने की यही प्रक्रिया है ।

'जिनवचसि रमन्ते' का अर्थ पाण्डे राजमलजी कलशटीका मे इसप्रकार करते हैं –

"दिव्यध्वनि द्वारा कही है उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु, उसमे सावधानपने रुचि–श्रद्धा–प्रतीति करते हैं । विवरण – शुद्ध जीववस्तु का प्रत्यक्षपने अनुभव करते हैं, उसका नाम रुचि – श्रद्धा–प्रतीति है । भावार्थ इसप्रकार है–वचन पुद्गल है, उसकी रुचि करने पर स्वरूप की प्राप्ति नही । इसलिए वचन के द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेय वस्तु, उसका अनुभव करने पर फलप्राप्ति है ।"

आत्मकल्याण की भावना से जिनवाणी का अत्यन्त रुचिपूर्वक स्वाध्याय करना, पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना, उसके अर्थ का विचार करना, मंथन करना; परस्पर चर्चा करना, प्रश्नोत्तर करना आदि व्यवहार से जिनवचनों

मे रमण करना है और जिनवाणी मे प्रतिपादित शुद्धनय की विषयभूत आत्मवस्तु का अनुभव करना निश्चय से जिनवचनो मे रमण करना है ।

व्यवहारजिनवचनो मे रमण करना देशनालब्धि का प्रतीक है और निश्चयजिनवचनो मे रमण करना करणलब्धि का प्रतीक है ।

यहाँ जिनवचनो मे रमने का फल तत्काल ही आत्मानुभव बताया है, अत यहाँ निश्चयनय वाला अर्थ लेना ही उपयुक्त है ।

'स्वय वान्तमोहा' – का अर्थ भी कलश टीकाकार ने विशेष किया है, जो विचार करने योग्य है । उनका कथन मूलत इसप्रकार है –

"सहजपने बमा है मिथ्यात्व – विपरीतपना, ऐसे है । भावार्थ इसप्रकार है – अनन्त ससार जीव के भ्रमते हुए जाता है । वे ससारी जीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमे अभव्यराशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं । भव्यजीवो मे कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य हैं। उनके मोक्ष पहुँचने का कालपरिमाण है । विवरण – यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जायगा – ऐसी नोध केवलज्ञान में है । वह जीव ससार मे भ्रमते-भ्रमते जभी अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र रहता है, तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है । इसका नाम काललब्धि कहलाता है । यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के बिना करोड उपाय जो किये जाएं तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं – ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्ववस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है ।"

प्रश्न .– एक ओर तो कहते हैं कि जो पुरुष जिनवचनों में रमते हैं, वे तत्काल ही आत्मा को प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि सम्यक्त्ववस्तु यत्नसाध्य नही, सहजरूप है । दोनों में सत्य क्या है ?

उत्तर :– दोनों ही सत्य हैं, मुक्ति के मार्ग मे दोनों का ही अद्भुत सुमेल है, क्योंकि जिनवचनों मे रमणता भी सहज ही होती है । 'जिनवचसि रमन्ते' और 'स्वयं वान्तमोहा' दोनों ही पद मूल छन्द में एक साथ ही विद्यमान हैं ।

कलशटीका के उक्त कथन मे समागत विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष में जायगा – ऐसी नोंध केवलज्ञान में है और काललब्धि के बिना करोड उपाय करो तो भी सम्यक्त्व नहीं होगा । उक्त दोनो ही कथन क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करते हैं। क्रमबद्धपर्याय के सबध मे विस्तार से जानने की भावना हो तो लेखक की अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन किया जाना चाहिए ।

जिनवचनो की विशेषता बताते हुए उक्त छन्द मे कहा गया है कि वे जिनवचन निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयो के बीच दिखाई देनेवाले विरोध को मिटाने मे समर्थ 'स्याद्' पद से अंकित है ।

निश्चयनय अथवा द्रव्यार्थिकनय से आत्मवस्तु सामान्य, अभेद-अखण्ड, नित्य एव एक है और व्यवहारनय अथवा पर्यायार्थिकनय से विशेष, भेद, अनित्य एव अनेक है । – इसप्रकार उक्त दोनो नयो मे परस्पर विरोध भासित होता है, पर ऐसा विरोध तो एकान्तवादियो के ही हो सकता है, 'स्याद्' पद को स्वीकार करनेवाले अनेकान्तवादियो के नहीं ।

चौथे कलश को समाप्त करते हुए एव पाँचवे कलश की भूमिका स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबडा लिखते हैं

"इसप्रकार यह बारह गाथाओ की पीठिका है । अब आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते है । अशुद्धनय (व्यवहारनय) की प्रधानता मे जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जबकि यहाँ उन जीवादितत्त्वो को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है – यह कहते हैं ।

टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं । उनमे से प्रथम श्लोक मे यह कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा, तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है ।"

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या
मिह्-निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

(रोला)

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥५॥

यद्यपि खेद है कि जिन्होने पहली पदवी मे पैर रखा है, उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, हाथ का सहारा है, तथापि जो परद्रव्यो और उनके भावो से रहित, चैतन्यचमत्कारमात्र परम-अर्थ को अन्तर मे अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसमे लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते है, उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नही है ।

बारहवी गाथा में परमभाव और अपरमभाव की चर्चा मे इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है, अत यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नही है । बस इतना कहना पर्याप्त है कि इस छन्द मे 'हस्तावलम्ब' कहकर व्यवहारनय की यथास्थान उपयोगिता भी बता दी है और 'हंत' कहकर इस पराधीनता पर खेद भी व्यक्त कर दिया है ।

हाथ की लाठी शक्ति की नहीं, अशक्ति (कमजोरी) की सूचक है । प्राथमिक भूमिका मे अपनी कमजोरी के कारण व्यवहारनय का सहारा लेना पडता है, पर वह हमारे लिए सौभाग्य की बात नही है।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने मे लाठी का सहारा लेना पडता है, पर उसकी भावना तो यही रहती है कि कब इस लाठी का आश्रय छूटे? वह यह नहीं चाहता कि मुझे सदा ही यह सहारा लेना पडे । उसीप्रकार व्यवहार का सहारा

लेते हुए भी कोई आत्मार्थी यह नहीं चाहता कि उसे सदा ही यह सहारा लेना पडे। वह तो यही चाहता है कि कब इसका आश्रय छूटे और कब मै अपने मे समा जाऊँ।

बस यही भाव उक्त छन्द मे व्यक्त किया गया है ।

अब आगामी कलश मे निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥६॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥
नव तत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिये ॥६॥

शुद्धनय से ज्ञान के घनपिण्ड, स्वय मे परिपूर्ण, अपने गुण-पर्यायो मे व्याप्त, एकत्व मे नियत, शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा को परद्रव्यो और उनके भावो से पृथक् देखना निश्चय सम्यग्दर्शन है । बस यही आत्मा मै हूँ अथवा ऐसा ही आत्मा मै हूँ और इसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है । –ऐसा ज्ञानी जानते हैं । इसलिए ज्ञानीजन भावना भाते हैं कि इस नव तत्त्व की परिपाटी को छोडकर हमे तो एक आत्मा ही प्राप्त हो । तात्पर्य यह है कि हमे तो एक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन ही इष्ट है, नवतत्त्व की विकल्पात्मक श्रद्धावाले व्यवहार सम्यग्दर्शन से कोई प्रयोजन नहीं ।

इस कलश में अन्य परद्रव्य और उनके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले शुभभावो की बात तो बहुत दूर ही रही; नवतत्त्व संबंधी विकल्पों एवं उनके

ज्ञान-श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रति भी अरुचि प्रदर्शित की गई है और दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा या उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रति रुचि, श्रद्धा, आस्था व्यक्त की गई है, क्योंकि सच्चा मुक्ति का मार्ग वही है ।

उक्त कलश के भावार्थ मे पण्डित श्री जयचदजी छाबडा ने बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो मूलत इसप्रकार है –

"सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेदो में व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्व मे निश्चित किया गया है – शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्यो के भावो से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है । व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नही रहता । शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नही रहता, इसलिए नियमरूप है । शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है – सर्व लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है । ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है । यह कही पृथक् पदार्थ नही है, आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए आत्मा ही है । अत जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नही ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अश हुआ । श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है, इसलिए यह शुद्धनय सर्व द्रव्यो से भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायो मे व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप – सर्व लोकालोक को जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है । यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे तो वह श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है । जबतक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक तत्त्वो का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वो की संतति (परिपाटी) को छोडकर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमे प्राप्त हो, हम दूसरा कुछ नहीं चाहते । यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नही है । यदि सर्वथा नयो का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव मे आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नही ?

उसका समाधान यह है – नास्तिकों को छोडकर सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते है, यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी मे जैसा सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से ही निश्चयसम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिए ।"

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मानुभव के लिए परमागम मे दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का जो स्वरूप बताया गया है, उसे आगम के अभ्यास से एव गुरुमुख से सुनकर अच्छी तरह समझना चाहिए। राजमार्ग यही है । कभी किसी को इसके बिना सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती देखी गई हो, सुनी गई हो, तो उसे अपवाद ही समझना चाहिए, राजमार्ग नही, क्योंकि उसे पूर्वभव मे या इसी भव मे पहले कभी देशना उपलब्ध हो गई होगी या आगमाभ्यास से उसे यह बात ख्याल मे आ गई होगी। इसप्रकार के उदाहरणो का बहाना बनाकर आगमाभ्यास और देशनालब्धि की उपेक्षा करना ठीक नहीं है । भगवान आत्मा का सच्चा स्वरूप समझे बिना 'आत्मा चैतन्य है' मात्र इतना विचारते रहने से कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नही है – यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।

अब आगामी कलश मे यह कहते हैं कि शुद्धनय के आश्रय से परद्रव्यो से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है, वह आत्मज्योति नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को नहीं छोडती है ।

(अनुष्टुभ)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥७॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर तजे न एकस्वरूप ॥७॥

अत शुद्धनय के आश्रय से पर से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है, वह नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को कभी नहीं छोडती।

उक्त छन्द का अर्थ करते हुए कलशटीका मे कहा गया है :—

"जैसे अग्नि दाहक लक्षणवाली है, वह काष्ठ, तृण, कण्डा आदि समस्त दाह्य को दहती है, दहती हुई अग्नि दाह्याकार होती है, पर उसका विचार है कि जो उसे काष्ठ, तृण और कण्डे की आकृति में देखा जाय तो काष्ठ की अग्नि, तृण की अग्नि और कण्डे की अग्नि ऐसा कहना सौंचा ही है और जो अग्नि की उष्णतामात्र विचारा जाय तो उष्णमात्र है। काष्ठ की अग्नि, तृण की अग्नि और कण्डे की अग्नि ऐसे समस्त विकल्प झूठे हैं । उसीप्रकार नौ तत्त्वरूप जीव के परिणाम है । वे परिणाम कितने ही शुद्धरूप है, कितने ही अशुद्धरूप है। जो नौ परिणाम मे ही देखा जाय तो नौ ही तत्त्व सौंचे हैं और जो चेतनामात्र अनुभव किया जाय तो नौ ही विकल्प झूठे है ।"

कलशटीका के उक्त भाव को कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इकतीसा सवैया छन्द मे इसप्रकार प्रस्तुत किया है —

"जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावक मैं दहिये ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसे एक दाहक सुभाव जब गहिये ॥
तैसैं नव तत्त्व मैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्धरूप कहिये ।

जाही छिन चेतना सकति कौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ।।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलानेवाली अग्नि ईंधन के आकाररूप से परिणमित होने के कारण अनेक नाम पाती है, काठ की अग्नि, तृण की अग्नि, कडे की अग्नि आदि अनेक नामो से अभिहित की जाती है, तो भी स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वह एक दाहकस्वभाव के रूप मे ही दिखाई देती है ।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा नवतत्त्वो मे जाकर शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र भावो से युक्त होकर अनेक प्रकार का हो गया है, नवतत्त्वरूप हो गया है, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष रूप हो गया लगता है, तो भी चेतनस्वभाव की दृष्टि से देखने पर अत्यन्त स्पष्टरूप से एक, अभेद, अखण्ड, नित्य ही प्रतीति मे आता है ।

नौ तत्त्वो मे एक आत्मा ही प्रकाशमान है, क्योकि नौ तत्त्वरूप होकर भी उसने अपने शुद्धनय के विषयभूत सामान्य, नित्य, अभेद एव एक स्वभाव को नही छोडा है ।

छठवे कलश मे कहा गया था कि हमे नौ तत्त्व की सततिवाला व्यवहारसम्यग्दर्शन नही चाहिए, हमे तो शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चयसम्यग्दर्शन ही अभीष्ट है । अत यहाँ यह कहा जा रहा है कि नौ तत्त्वो मे भी एक आत्मज्योति ही प्रकाशमान है और वह नौ तत्त्वो मे जाकर भी एकत्व को नही छोडती है ।

तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन अलग-अलग नही होते । सम्यग्दर्शन तो एक ही है और वह शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होता है । उक्त निश्चयसम्यग्दर्शन के धारक को नवतत्त्वो की भी सच्ची श्रद्धा होती है अर्थात् वे जैसे है, उनकी वैसी ही

---

१ समयसार नाटक जीवद्वार छद ८

श्रद्धा होती है । निश्चयसम्यग्दृष्टि की नवतत्त्वो सबधी उक्त श्रद्धा को ही व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते है ।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के आत्मश्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन और नवतत्त्व के श्रद्धान को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है । अगली ही गाथा मे यह कहने जा रहे है कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है ।

पाँचवाँ, छठवाँ एव सातवाँ – ये तीनो कलश अगली गाथा की उत्थानिकारूप कलश है । अत इन कलशो की सगति आगामी गाथा से बैठती है । •

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजे है । सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है । इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी हैं । सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना ।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं । जहाँ एक ओर वे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते है, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते है ।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जन सामान्य की समझ मे सहज नहीं आ पाती । यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शकाशील हो उठते हैं ।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती।

— सत्य की खोज, पृष्ठ १३५

समयसार गाथा १३

आचार्य जयसेन के अनुसार संक्षिप्त रुचिवाले आसन्नभव्य जीवो के लिए तो समयसार की पीठिकारूप आरभ की १२ गाथाए ही पर्याप्त हैं, क्योकि वे तो इतने से ही हेयोपादेय तत्त्वो को जानकर अपने विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव की भावना भाने मे समर्थ होते है । अत संक्षिप्त रुचिवालो के लिए तो समयसार यही समाप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार मे जो कुछ कहना चाहते है, उसे सक्षेप मे तो वे कह ही चुके हैं । समयसार का मूल प्रतिपाद्य जो दृष्टि का विषय है, उसका स्पष्टीकरण तो छठवीं-सातवी गाथा मे आ ही गया है । आठवी से बारहवी गाथा तक निश्चय-व्यवहार का स्वरूप, उनकी उपयोगिता तथा उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता भी बता दी गई है ।

छठवी-सातवी गाथा मे प्रतिपादित आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है । अत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का मूल आधार तो स्पष्ट हो ही गया है । उसे जानकर, उसमे अपनापन स्थापित करके, उसमे ही जमकर, रमकर, मोक्षमार्ग मे आरूढ होकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

अत तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी, संक्षिप्त रुचिवाले आसन्नभव्य जीवो का काम तो हो ही गया है । अब तो विस्तार रुचिवाले सर्व सामान्यजनो को समझाने के लिए नवतत्त्वो का आध्यात्मिक स्वरूप समझाने की पावन भावना से विस्तारपूर्वक कथन आरभ किया जाता है ।

उसमे सर्वप्रथम इस तेरहवी गाथा मे यह बताते हैं कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है । मूल गाथा इसप्रकार है –

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

(हरिगीत)

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥१३॥

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष – ये नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं ।

इस गाथा मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो बताया ही गया है, प्रकारान्तर से समयसार मे आगे आनेवाली विषयवस्तु का सकेत भी कर दिया है, आगे के अधिकारो के नामोल्लेख भी कर दिये हैं । कर्ता-कर्म अधिकार एव सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को छोडकर अन्य सभी अधिकारो के नाम भी आ ही गये है, अधिकारो का क्रम भी आ गया है । इस गाथा मे तत्त्वो के नाम जिस क्रम से आये है, वही क्रम अधिकारो का है । इससे स्पष्ट है कि इस गाथा मे तत्त्वो के नामो का जो क्रम है, वह छन्दानुरोध से नही, अपितु बुद्धिपूर्वक रखा गया है ।

यह क्रम तत्त्वार्थसूत्र के क्रम से कुछ हटकर है । तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र मे भी जो क्रम है, वही क्रम उसके प्रतिपादन मे भी है, अधिकारो मे भी है । अत वहाँ भी वह क्रम बुद्धिपूर्वक ही रखा गया है । उसके औचित्य पर भी उसके टीकाकारो ने प्रकाश डाला है। तत्त्वार्थसूत्र गद्य मे होने से छन्दानुरोधवाला तर्क भी नही दिया जा सकता ।

अत यहाँ समयसार मे समागत क्रम के औचित्य की समीक्षा भी आवश्यक है । उक्त सन्दर्भ मे हमे आत्मख्याति से मार्गदर्शन प्राप्त होता है । आत्मख्याति टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया है । नाटक के मच पर जोडो (युग्मों) की प्रधानता रहती है । इसके अधिकारो के चयन मे भी जोडो को ध्यान मे रखा गया है । जैसे – जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, बध-मोक्ष । चूँकि तत्त्व नौ हैं, अत एक तो बिना जोडे का रहना ही था । इस कारण निर्जरा तत्त्व बिना जोडे के रह गया है और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो स्वतत्र है ही ।

यद्यपि कर्ता-कर्म और सर्वविशुद्धज्ञान — ये दो नवतत्त्वो मे नही आते हैं, तथापि इनके सन्दर्भ मे जनसामान्य मे बहुत अज्ञान रहता है। इस अज्ञान का निवारण किए बिना आत्मतत्त्व को सही रूप मे समझ पाना सभव नही है। अत इन्हें भी समयसार मे स्थान प्राप्त हुआ है।

कर्ता-कर्म अधिकार को जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद क्यो रखा गया है? यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है ।

कर्ता-कर्म सबधी भूल प्रकारान्तर से जीव-अजीव सबधी भूल ही है, क्योंकि जीव को अजीव का और अजीव को जीव का कर्ता-भोक्ता मानना भी जीव-अजीव सबधी भूल ही है। इसकारण इसे जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद रखा गया है ।

प्रश्न :- यदि कर्ता-कर्म सबधी भूल जीव-अजीव सबधी भूल ही है तो फिर इस अधिकार की विषय-वस्तु को जीवाजीवाधिकार मे ही शामिल कर लेना चाहिए, पृथक् अधिकार बनाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर - कर्ता-कर्म सबधी भूल की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक था कि तत्सबधी अधिकार स्वतत्र रखा जाय । न केवल कर्ता-कर्म अधिकार स्वतत्र है, अपितु यह सभी अधिकारो मे सबसे बडा अधिकार भी है । ४१५ गाथाओ के समयसार मे यह अकेला ही ७६ गाथाओ को अपने मे समेटे हुए है । सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे भी कर्ता-कर्म सबधी भूल पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । इससे अनुमान किया जा सकता है कि मुक्ति के मार्ग मे कर्ता-कर्म सबधी भूल का निवारण करना कितना आवश्यक है ?

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो सम्पूर्ण समयसार का निचोड है, साराश है, अत उसे अन्त मे रखना तो एकदम स्वाभाविक ही है ।

प्रश्न :- जीवाजीवाधिकार और कर्ता-कर्म अधिकार के प्रतिपादन मे मूलभूत अन्तर क्या है ?

उत्तर .- जीव-अजीव के सम्बन्ध में जो भूल होती है, वह मुख्यत चार रूपों में पाई जाती है – पर मे एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि । इन भूलो को निकालकर उक्त सन्दर्भ मे सही वस्तुस्थिति से परिचित होना प्रत्येक आत्मार्थी का प्राथमिक कर्तव्य है ।

इनमे से परद्रव्य मे एकत्व और ममत्व का निषेध जीवाजीवाधिकार मे किया गया है तथा परद्रव्य के कर्तृत्व एव भोक्तृत्व का निषेध कर्ता-कर्म अधिकार मे किया गया है ।

इनमे से एकत्व को अपनत्व और ममत्व को स्वामित्व भी कहते हैं । इसप्रकार पर मे अपनत्व और स्वामित्व सबधी भूल को निकालना जीवाजीवाधिकार का प्रतिपाद्य है और कर्तृत्व और भोक्तृत्व सबधी भूल को निकालना कर्ता-कर्म अधिकार का प्रतिपाद्य है । – इन दोनो अधिकारो के प्रतिपादन मे यही मूलभूत अन्तर है ।

प्रश्न :- जब कर्ता-कर्म अधिकार मे कर्ता-कर्म के साथ-साथ भोक्ता-भोग्य सबधी भूल पर भी प्रकाश डाला गया है, तब इस अधिकार का नाम अकेले कर्ता-कर्म के नाम पर कैसे रखा जा सकता है? इसका नाम तो कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य अधिकार होना चाहिए ।

उत्तर - बात तो ऐसी ही है, पर क्या इतना लम्बा नाम अच्छा लगता? उक्त अधिकार के सम्पूर्ण प्रतिपादन पर जब एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है कि इसमे सर्वत्र कर्ता-कर्म सम्बन्ध की चर्चा ही मुख्यरूप से की गई है । हाँ, यह अवश्य है कि एक प्रकरण समाप्त होने पर सर्वत्र यह कह दिया गया है कि इसीप्रकार भोक्ता-भोग्य के सबध मे भी समझना चाहिए । इसप्रकार इस अधिकार में मुख्यरूप से कर्ता-कर्म और गौणरूप से भोक्ता-भोग्य की बात की है । अत. उक्त नाम उचित ही है ।

प्रश्न :- तत्त्वार्थसूत्र मे जीवादितत्त्वार्थो के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है[1] और तत्त्वार्थ सात बताये गये हैं[2] तथा उनके अधिगम के उपाय के रूप मे प्रमाण और नयो को प्रस्तुत किया गया है[3]। इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र मे प्रमाण और नयो से जाने हुए जीवादि सप्त तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और यहाँ इस तेरहवी गाथा मे भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्वो को ही सम्यग्दर्शन कहा है । उक्त दोनो कथनो मे यह मतभेद क्यो है ?

उत्तर - यह मतभेद नही, विवक्षाभेद है । यदि दोनो कथनो की विवक्षाये समझ ली जावे तो कोई आशका नही रहेगी । तत्त्वार्थसूत्र का कथन सैद्धातिक कथन है और समयसार का कथन आध्यात्मिक कथन है । तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को सप्त तत्त्वार्थो का प्रमाण और नयो से गुण-पर्याय सहित, सर्वाग विवेचन अभीष्ट था, जैसा कि उन्होने आगे किया भी है । जीवो के ससारी-सिद्ध सभी भेद बताये, उनके रहने के स्थानो की चर्चा की । अजीवादि तत्त्वो का भी इसीप्रकार विस्तृत विवेचन किया । आस्रव मे सत्तावन प्रकार के आस्रव बताये, उनके शुभाशुभभेद करके व्रतो का वर्णन भी किया । बधतत्त्व मे कर्मो की प्रकृतियाँ गिनाई, निर्जरा मे भी उसके उपायो की विस्तृत समीक्षा की । पर समयसार मे यह सब नही है, समयसार की प्रतिपादनशैली ही अलग है । समयसार मे तो सभी तत्त्वो मे प्रकाशमान आत्मज्योति को ही खोजा गया है।

सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना भूतार्थनय का ही कार्य है । भूतार्थनय ही यह महान कार्य कर सकता है । अत समयसार के आरंभ मे ही, इस तेरहवीं गाथा मे ही यह घोषित कर दिया कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है और आगे सभी तत्त्वो की मीमासा भी इसी नय से प्रस्तुत की है, सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है ।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २
२ वही सूत्र ४
३ वही सूत्र ६

रही बात तत्त्वो की सख्या मे सात और नौ के अन्तर की, सो यह कोई बात नहीं है, क्योकि तत्त्वार्थसूत्र मे पुण्य और पाप को आस्रव-बध मे शामिल कर लिया गया है और समयसार मे उन्हें अलग कह दिया गया है । — बस इतनी ही बात है ।

पुण्यतत्त्व मे उपादेयबुद्धि भी एक ऐसा अज्ञान है कि जिसके कारण भगवान आत्मा के दर्शन दुर्लभ हो जाते है । आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए इस अज्ञान का निवारण भी अत्यन्त आवश्यक है । यही कारण है कि समयसार मे पुण्य-पाप को आस्रव-बध मे शामिल न कर तत्त्वव्यवस्था मे स्वतत्र स्थान दिया गया है और तत्सबधी अज्ञान के निवारण के लिए स्वतत्र अधिकार भी रखा गया है ।

यह तेरहवी गाथा एक ऐसी गाथा है कि जिसमे आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका के बीच मे भी एक कलश दिया है । सामान्यरूप से आचार्य अमृतचन्द्र यह पद्धति अपनाते है कि पहले गद्य मे टीका लिखते है और यदि आवश्यकता समझे तो अन्त मे कलश लिखते है, पर इस गाथा की टीका मे मध्य मे भी कलश दिया है और अन्त मे भी ।

टीका का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने गाथा मे समागत विषय-वस्तु के स्पष्टीकरण के उपरान्त उपसहार के रूप मे आठवाँ कलश दिया है। उसके उपरान्त जो विषय-वस्तु गाथा मे तो नही आई है, तथापि उन्हे उसपर भी प्रकाश डालना प्रसगोपान्त लगा, अत उसपर भी प्रकाश डाला है और अन्त मे उसके उपसहार रूप कलश दिया है।

नवतत्त्वो की चर्चा तो मूल गाथा मे है, पर प्रमाण-नय-निक्षेप की चर्चा मूल गाथा मे नही है । अत नवतत्त्व सबधी स्पष्टीकरण करने के बाद उपसहार का कलश लिख दिया। उसके बाद प्रमाण-नय-निक्षेप की चर्चा करके तत्सबधी कलश लिखा ।

प्रश्न .- यह बात तो ठीक नहीं लगती कि जो चर्चा गाथा मे न हो, उसकी भी चर्चा टीका मे की जावे ?

उत्तर :- इसमे कुछ भी अनुचित नही है, क्योंकि सम्बन्धित विषयों का स्पष्टीकरण करना टीकाकार का कर्तव्य है । फिर इस गाथा मे तो यह कहा गया है कि भूतार्थनय से जाने हुए नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं। यह सुनकर जिज्ञासु पाठको को यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि क्या भूतार्थनय के अतिरिक्त भी कोई जानने के साधन हैं? यदि है तो उनसे जाने हुए नवतत्त्व सम्यग्दर्शन क्यों नहीं है?

इस जिज्ञासा के शमन के लिए ही आठवे कलश के बाद की टीका लिखी गई है, जिसमे प्रमाण, नय और निक्षेप के बारे मे न केवल प्रकाश डाला गया है, अपितु उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता भी स्पष्ट कर दी है ।

यहाँ हम भी आत्मख्याति को इसीप्रकार विभाजित करके प्रस्तुत कर रहे है ।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति मे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"भूतार्थनय से जाने हुए ये जीवादि नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही है, क्योंकि तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से प्रतिपादित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष नामक नवतत्त्वो मे एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय के द्वारा एकत्व प्राप्त करके शुद्धनयात्मक आत्मख्याति प्रगट होती है अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त होती है ।

इनमे विकारी होने योग्य विकार्य भाव और विकार करनेवाला विकारक कर्म — दोनों ही पुण्य है और दोनो ही पाप है, आस्रवरूप होने योग्य आस्राव्य भाव और आस्रव करनेवाला आस्रावक कर्म — दोनो ही आस्रव हैं, सवररूप होने योग्य सवार्य भाव और सवर करनेवाला सवारक कर्म — दोनो ही सवर हैं, निर्जरारूप होने योग्य निर्जर्य भाव और निर्जरा करनेवाला निर्जरक कर्म — दोनो ही निर्जरा है, बधनरूप होने योग्य बध्य भाव और बधन करनेवाला बधक कर्म — दोनो ही बध हैं तथा मोक्षरूप होने योग्य मोच्य भाव और मोक्ष करनेवाला मोचक कर्म — दोनो ही मोक्ष हैं, क्योंकि दोनो मे से किसी एक का अपने-आप अकेले पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा,

बंध और मोक्षरूप होना सभव नहीं है । वे दोनो जीव और अजीव हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युगल मे से पहला जीव है और दूसरा अजीव है ।

बाह्यदृष्टि से देखा जाय तो जीव-पुद्गल की अनादिबधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, अत इन नवतत्त्वो मे भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो एक ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है । इनमे से पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्षरूप भाव केवल जीव के विकार है, जीव के विशेषभाव हैं, जीवरूप भाव है और जीव के विकार के हेतुभूत जो पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्षरूप तत्त्व हैं, वे सभी केवल अजीव हैं।

ऐसे ये नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोडकर स्वय और पर जिनके कारण हैं – ऐसे एकद्रव्य की पर्यायो के रूप मे अनुभव करने पर भूतार्थ है, सत्यार्थ है और सर्वकाल मे अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं । इसलिए इन नवतत्त्वो मे भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसप्रकार एकत्वरूप से प्रकाशित यह भगवान आत्मा शुद्धनय के रूप मे अनुभव किया जाता है और यह अनुभूति आत्मख्याति ही है तथा यह आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है । अत भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है – यह कथन पूर्णत निर्दोष है ।"

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की सस्कृत भाषा मे जो टीका लिखी है, उसका नाम उन्होने 'आत्मख्याति' रखा है और सर्वप्रथम इस गाथा की टीका में 'आत्मख्याति' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ स्वयं उन्होने आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन किया है ।

आत्मख्याति का अर्थ होता है आत्मा की प्रसिद्धि । हमारा आत्मा दूसरो को जाने या दूसरे आत्मा हमे जाने – इसका नाम आत्मख्याति या आत्मप्रसिद्धि नही है, अपितु अपना आत्मा स्वय को ही जाने, अनुभव करे, अपने मे ही अपनापन स्थापित करे, अपने मे ही रम जाय, जम जाय, समा जाय – यही सच्ची आत्मख्याति है । आत्मख्याति अर्थात् मोक्षमार्ग – अपनी समझ, अपनी पहिचान, अपने मे ही सर्वस्व समर्पण ।

यह आत्मख्याति, यह आत्मानुभूति भूतार्थनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है और यही निश्चयसम्यग्दर्शन है ।

कौन नय भूतार्थ है और कौन नही – यह बात ग्यारहवी गाथा मे विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है । अत भूतार्थनय की व्याख्या करना यहाँ आवश्यक नही है ।

प्रश्न - ग्यारहवी गाथा के निष्कर्ष मे तो एक परमशुद्धनिश्चयनय को ही भूतार्थ कहा है और उसका विषय तो परमपारिणामिकभावरूप शुद्ध जीवतत्त्व ही है । ऐसी स्थिति मे भूतार्थनय से नवतत्त्वो को कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर - टीका के प्रथम पैरा मे यह कहा गया है कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से प्रतिपादित जीवादि नवतत्त्वो मे एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय के द्वारा एकत्व प्राप्त करके शुद्धनयात्मक आत्मख्याति प्रगट होती है अर्थात् आत्मानुभूति प्रगट होती है । इससे यही प्रतिफलित होता है कि नवतत्त्वो मे प्रकाशमान एक आत्मज्योति को देखना ही भूतार्थनय से नवतत्त्वो को जानना है ।

इसी बात को विस्तार से समझाते हुए टीका मे आगे नवतत्त्वो को भाव और द्रव्य इन दो भागो मे बॉटा है और यह स्पष्ट किया गया है कि द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप, द्रव्यास्रव, द्रव्यसवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यबध और द्रव्यमोक्ष अजीव हैं, अजीव के ही विस्तार है, तथा भावपुण्य, भावपाप, भावास्रव, भावसवर, भावनिर्जरा, भावबध और भावमोक्ष जीव हैं, जीव के ही विस्तार है ।

इसप्रकार ये नवतत्त्व जीव और अजीव के ही विस्तार है । तात्पर्य यह है कि इन नवतत्त्वो मे प्रकारान्तर से जीवतत्त्व समाहित है । नवतत्त्वो मे समाहित इस जीवतत्त्व को दिखाना ही भूतार्थनय का कार्य है और इसे ही भूतार्थनय से नवतत्त्वो का जानना कहते हैं ।

जीवाजीवात्मक इन नवतत्त्वो की भूतार्थता-अभूतार्थता पर विचार करते हुए टीका मे कहा गया है कि बाह्यदृष्टि से देखा जाय तो जीव-पुद्गल की अनादिबधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ है । अत इन नवतत्त्वो मे भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

आगे कहा है कि अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है । पुण्यपापादि तत्त्वो मे भावपुण्यादि जीव के विकार है और जीव के विकार के निमित्त द्रव्यपुण्य-पापादि अजीव हैं। जीवद्रव्य के स्वभाव को छोडकर एक द्रव्य की पर्यायो के रूप मे अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ हैं और सर्वकाल मे अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नवतत्त्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । इसलिए इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसप्रकार भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्वो मे भी एकप्रकार से एकमात्र परमपारिणामिकभावरूप शुद्ध जीवतत्त्व ही जाना गया है और यह जाना जाना ही आत्मख्याति है, आत्मानुभूति है, निश्चयसम्यग्दर्शन है । अत इस कथन मे कोई दोष नही है कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है ।

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ मे पण्डित जयचदजी छाबडा लिखते है —

"इन नवतत्त्वो मे, शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न

नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नही देते । जबतक इसप्रकार जीवतत्त्व की जानकारी जीव को नही है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है । जीव-पुद्गल की बन्धपर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निजस्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य-पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नही है, वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे इसलिए जब वह निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट गया, तब जीव, पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नही हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है । जबतक भिन्न-भिन्न नवपदार्थो को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नवतत्त्वो मे भी सर्वत्र एक जीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और शुद्धनय से उसे जानना ही भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व है, जिन्हे सम्यग्दर्शन कहा गया है ।

अब इसी अर्थ को पुष्ट करनेवाला कलश लिखते हैं और उसमे प्रेरणा देते हैं कि हे भव्यजनो । तुम तो नवतत्त्वो मे प्रकाशमान एक आत्मज्योति को ही देखो ।

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

(रोला)

शुद्धकनक ज्यों छिपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छिपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।
अरे भव्यजन । पद-पद पर तुम उसको जानो ॥८॥

जिसप्रकार वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं, उसीप्रकार नवतत्त्वो मे बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय के द्वारा बाहर निकालकर प्रगट की गई है और यह आत्मज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय मे चित्-चमत्कारमात्र एकरूप मे उद्योतमान है । इसलिए हे भव्यजीवो । तुम इसे सदा ही अन्यद्रव्यो एव उनके आश्रय से होनेवाले नैमित्तिकभावो से भिन्न एकरूप देखो ।

खान मे पडा हुआ स्वर्ण अपनी आरम्भिक अवस्था से ही अनेक अन्य पदार्थो से मिला हुआ रहता है । जब उसे बाहर निकालकर अग्नि मे तपाकर शुद्ध करते हैं तो अशुद्धता के जलने से अग्नि की लौ मे स्वर्ण के हरे-पीले अनेक रग दिखाई देते हैं, तथापि वह कहलाता तो स्वर्ण ही है ।

भले ही वह स्वर्ण कहलाये, तथापि स्वर्ण का पारखी सर्राफ उसका मूल्य उतना ही देता है कि जितना उसमे शुद्ध स्वर्ण है । उस अशुद्ध स्वर्ण को कसौटी पर कसकर सर्राफ यह जान लेता है कि इसमे अशुद्धता कितनी है और क्या है तथा शुद्धता कितनी है और क्या है ? अशुद्धता की उपेक्षा कर शुद्धता की कीमत देकर उसे प्राप्त कर लेता है । इसीप्रकार अनादि से ही यह आत्मा नवतत्त्वो मे छिपा हुआ है । शुद्धनय के प्रयोग से आत्मार्थी यह जान लेता है कि असली आत्मा क्या है और उसमे ही अपनापन स्थापित कर, उसमे ही जमकर, रमकर, मुक्तिमार्ग पर आरूढ हो जाता है ।

इस बात को कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार मे इसप्रकार छन्दोबद्ध किया है —

(इकतीसा सवैया)

जैसैं बनवारी मैं कुधात के मिलाप हेम,
नाना भाँति भयौ पै तथापि एक नाम है ।

कसिकैं कसोटी लीकु निरखै सराफ ताहि,
बान के प्रवान करि लेतु देतु दाम है ॥

तैसैं ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महाधाम है ।

दीसै उनमान सौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमा ही राम है ॥९॥

उक्त सदर्भ मे कलश-टीकाकार ने कुछ गहराई से चर्चा की है, जो इसप्रकार है –

"जीववस्तु अनादिकाल से धातु और पाषाण के सयोग के समान कर्मपर्याय से मिली ही चली आ रही है । सो मिली हुई होकर वह रागादि विभाव परिणामो के साथ व्याप्य-व्यापक रूप से स्वय परिणमन कर रही है । वह परिणमन देखा जाय, जीव का स्वरूप न देखा जाय तो जीववस्तु नौ तत्त्वरूप है – ऐसा दृष्टि मे आता है । ऐसा भी है, सर्वथा झूठ नहीं है, क्योंकि विभावरूप रागादि परिणाम शक्ति जीव मे ही है । ..

वस्तु का विचार करने पर भेदरूप भी वस्तु ही है, वस्तु से भिन्न भेद कुछ वस्तु नही है । भावार्थ इसप्रकार है कि सुवर्णमात्र न देखा जाए, बानभेद मात्र देखा जाय तो बानभेद है, सुवर्ण की शक्ति ऐसी भी है । जो बानभेद न देखा जाय, केवल सुवर्णमात्र देखा जाय तो बानभेद झूठा है ।

इसीप्रकार जो शुद्ध जीववस्तु मात्र न देखी जाय, गुण-पर्याय मात्र या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, जीववस्तु ऐसी भी है । जो गुण-पर्यायभेद या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभेद न देखा जाय, वस्तुमात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है । ऐसा अनुभव सम्यकत्व है ।

जो भेदबुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतना लक्षण से जीव को जानती है, वस्तु विचारने पर इतना विकल्प भी झूठा है, शुद्धवस्तु मात्र है । ऐसा अनुभव सम्यकत्व है ।"

उक्त कथन मे सयोग, सयोगीभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय एव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेद तथा लक्ष्य-लक्षण भेद सभी को व्यवहारनय से सत्यार्थ बताकर भी यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धनय से, भूतार्थनय से ये सभी असत्यार्थ है, इन सबसे भिन्न शुद्ध जीववस्तु मात्र ही सत्यार्थ है और उसके आश्रय से ही अनुभव होता है, सम्यक्त्व होता है ।

: कलशटीका मे 'उन्नीयमान' का अर्थ अनुमानगोचर और 'उद्योतमान' का अर्थ प्रत्यक्षज्ञानगोचर तथा 'विविक्त' का अर्थ नौ तत्त्वों के विकल्प से रहित किया है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है । तात्पर्य यह है कि जीववस्तु चेतनालक्षण से जानी जाती है इसकारण अनुमानगोचर है और अनुभवज्ञान का विषय बनती है, इसलिए प्रत्यक्षज्ञानगोचर है ।

तेरहवीं गाथा की आत्मख्याति टीका मे समागत आठवे कलश के उपरान्त जो टीका लिखी गई है, उसमे मूलरूप से तो यही बताना अभीष्ट है कि भूतार्थनय के अतिरिक्त जो नय और प्रमाण व निक्षेप हैं, वे भी उसीप्रकार अभूतार्थ है, जिसप्रकार उनके द्वारा जाने गये नवपदार्थ, फिर भी यहाँ सक्षेप मे प्रमाण, नय और निक्षेप का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है । विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ नयो के भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो के रूप मे लिए गए है ।

इन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो का स्वरूप यदि विस्तार से जानने की जिज्ञासा हो तो लेखक की अन्य कृति "परमभावप्रकाशक नयचक्र" के तृतीय अध्याय का अध्ययन करना चाहिए। वहाँ इन नयो पर ४८ पृष्ठो मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है । यह नही भूलना चाहिए कि जिनागम का मर्म समझने के लिए इनका समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

आठवे कलश के उपरान्त समागत आत्मख्याति का भाव इसप्रकार है –

"अब जैसे नवतत्त्वो मे एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसीप्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपायभूत जो प्रमाण, नय, निक्षेप है, वे भी निश्चय से अभूतार्थ है, उनमे भी यह आत्मा ही भूतार्थ है। तात्पर्य यह है कि उनमे भी एक आत्मा को बतानेवाला नय ही भूतार्थ है ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है । जो इन्द्रिय, मन आदि उपात्त परपदार्थों एव प्रकाश, उपदेश आदि अनुपात्त परपदार्थों द्वारा प्रवर्ते, वह परोक्षप्रमाण है और जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से

प्रवृत्ति करे, वह प्रत्यक्षप्रमाण है । पाँच प्रकार के ज्ञानो मे मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण है, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान एकदेशप्रत्यक्षप्रमाण है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्षप्रमाण है ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष – ये दोनो ही प्रमाण, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, किन्तु जिसमे सर्वभेद गौण हो गये है, ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

नय दो प्रकार के है – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु मे जो नय मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिक नय है और जो नय उसी द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु मे मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है ।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दोनो नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से, भेद से, क्रम से अनुभव करने पर भूतार्थ है, सत्यार्थ है और द्रव्य तथा पर्याय दोनो से अनालिगित शुद्धवस्तुमात्र जीव के चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

निक्षेप चार प्रकार के हैं – नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप । गुण की अपेक्षा बिना वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेप है, 'यह वह है' – इसप्रकार अन्य वस्तु मे किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना स्थापनानिक्षेप है, अतीत और भावी पर्यायो का वर्तमान मे आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान मे कहना भावनिक्षेप है ।

ये चारो ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणभेद से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) अनुभव किए जाने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न-भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर ये चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

इसप्रकार इन प्रमाण, नय, निक्षेपो मे भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है ।"

पहले कहा था कि नवतत्त्वो मे भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है और यहाँ कहा जा रहा है कि इन प्रमाण, नय, निक्षेपो मे भी भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसप्रकार एकमात्र यही कहा जा रहा है कि नवतत्त्वो मे भी एकमात्र शुद्धजीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और प्रमाण, नय, निक्षेपो मे भी एकमात्र वही शुद्धजीवतत्त्व प्रकाशमान है । यह प्रकाशमान जीवतत्त्व ही दृष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है, ध्यान का ध्येय है, परमज्ञान का ज्ञेय है, मुक्तिमार्ग का मूल आधार है, इसके आश्रय से ही मुक्ति का मार्ग प्रगट होता है । जब वह शुद्धजीवास्तिकाय ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धान का श्रद्धेय और ध्यान का ध्येय बनता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभूति होती है, तब प्रमाण-नय-निक्षेप की तो बात ही क्या, परन्तु किसी भी प्रकार का द्वैत ही भासित नही होता है, एक आत्मा ही प्रकाशमान होता है ।

यही भाव आगामी कलश मे भी व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

(रोला)

निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो।
शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर भाई ॥९॥

सर्वप्रकार के भेदो से पार सामान्य, अभेद-अखण्ड, नित्य, एक चिन्मात्र भगवान आत्मा को विषय बनानेवाले परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा

का अनुभव होने पर नयो की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपो का समूह कहाँ चला जाता है? – यह हम नहीं जानते । जब द्वैत ही प्रतिभासित नही होता, तब प्रमाणादि के विकल्पो की तो बात ही क्या करे? तात्पर्य यह है कि अनुभव में सर्वप्रकार के भेद अत्यन्त गौण हो जाते हैं, प्रमाण-नयादि के भेदो की बात तो बहुत दूर, द्वैत का भी अनुभव नहीं होता, मात्र एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है ।

प्रश्न :– कलशटीका मे तो लिखा है कि प्रमाण-नय-निक्षेपरूप बुद्धि के द्वारा एक ही जीवद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप जो भेद किए जाते है, वे समस्त झूठे है । इन सबके झूठे होने पर जो कुछ वस्तु का स्वाद आता है, वह अनुभव है ।

अब प्रश्न यह है कि यहाँ झूठे का क्या अर्थ है, क्या द्रव्य-गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वस्तु मे नही है? प्रमाण-नय-निक्षेप और उनका कथन क्या सर्वथा असत्यार्थ है?

उत्तर :– नहीं, ऐसी बात नही है । वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप भी है । इस विषय की सम्यक् जानकारी के लिए प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन के द्रव्यसामान्याधिकार का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए ।

कलशटीका मे उन्हें जो झूठा कहा है, उसका प्रयोजन भी उनकी सत्ता से इन्कार करना नही है, अपितु अनुभव के काल मे तत्सबधी विकल्प उत्पन्न नही होते – मात्र इतना बताना ही अभीष्ट है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए कलशटीका मे लिखा है –

"भावार्थ इसप्रकार है कि अनादिकाल से जीव अज्ञानी है, जीवस्वरूप को नहीं जानता है। वह जब जीवसत्त्व की प्रतीति आनी चाहे, तब जैसे ही प्रतीति आवे, तैसे ही वस्तुस्वरूप साधा जाता है । सो यह साधना गुण-गुणी ज्ञान द्वारा होती है । दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिए वस्तुस्वरूप

का गुण-गुणी के भेदरूप मे विचार करने पर प्रमाण-नय-निक्षेपरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं । वे विकल्प प्रथम अवस्था मे भले ही हैं, तथापि स्वरूपमात्र अनुभवने पर झूठे हैं।"

उक्त कथन मे पाण्डे राजमलजी यह कहना चाहते है कि यद्यपि वस्तुस्वरूप समझने के लिए अध्ययन-मनन-चिन्तन करते समय प्रमाण-नय-निक्षेप सबधी विकल्प उत्पन्न होते हैं और उनकी उस समय उपयोगिता भी है, तथापि अनुभव के काल मे तत्सबधी विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। यहाँ झूठे का अर्थ उत्पन्न ही नही होना है । यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय एव प्रमाण-नय-निक्षेप के निषेध की बात नही है, अपितु अनुभव के काल मे तत्सबधी विकल्पो के उत्पन्न न होने की बात है ।

इसीप्रकार आत्मवस्तु तो द्वैताद्वैतस्वरूप है, भेदाभेदस्वरूप है, परन्तु अनुभव के काल मे द्वैत भी भासित नही होता । इसलिए कहा है कि जब अनुभव के काल मे द्वैत भी भासित नही होता, तब अन्य विकल्पो की क्या बात करें ।

प्रश्न — अनुभव के काल मे द्वैत भासित नही होता कि वस्तु मे द्वैतभाव है ही नही?

उत्तर — इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबडा इसी कलश के भावार्थ मे लिखते है —

"यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते है कि अन्त मे परमार्थरूप तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ । यही हमारा मत है, इसमे आपने विशेष क्या कहा?

इसका उत्तर — तुम्हारे मत मे सर्वथा अद्वैत माना जाता है । यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्यवस्तु का अभाव ही हो जाये और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है । हमारे मत मे नयविवक्षा है, जो बाह्यवस्तु का लोप नही करती । जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिट जाता है, तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है । इसलिए अनुभव कराने के लिए यह

कहा है कि शुद्ध अनुभव मे द्वैत भासित नही होता । यदि बाह्यवस्तु का लोप किया जाये तो आत्मा का लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसग आयेगा । इसलिए जैसे तुम कहते हो, उसप्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नही हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थश्रद्धा के बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है, वह भी मिथ्यारूप है । शून्य का प्रसंग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाशकुसुम के अनुभव के समान है ।"

इसप्रकार इस तेरहवी गाथा, उसकी टीका एव उसमे समागत कलशो मे एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से उभर कर सामने आई है कि यद्यपि प्रमाण-नय-निक्षेपो के विषयभूत नवतत्त्वार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय एव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी जानने योग्य है, उन्हे जानना उपयोगी भी है, आवश्यक भी है, तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से ही होती है । अत अब आगामी गाथा मे शुद्धनय का स्वरूप कहेगे ।

आगामी गाथा की उत्थानिकारूप मे समागत १0वे कलश मे भी शुद्धनय के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । वह कलश मूलत इसप्रकार है —

(उपजाति)

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥१0॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है — ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१0॥

परभावो से भिन्न, आदि-अन्त से रहित, परिपूर्ण, सकल्प-विकल्पो के जाल से रहित एक आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है ।

यहाँ परभाव मे परद्रव्य, परद्रव्यो के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से प्रगट होनेवाले अपने विभावभाव – इन सभी को लिया गया है, क्योकि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन सभी से भिन्न होता है।

द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यो मे अपनत्व स्थापित करना सकल्प है और ज्ञेयो के भेद से ज्ञान मे भेद ज्ञात होना विकल्प है । शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन सकल्प-विकल्पो से रहित है, अनादि-अनन्त है, परिपूर्णतत्त्व है । इसमे किसी भी प्रकार की कोई कमी नही है ।

इस कलश मे जिस आत्मस्वभाव की चर्चा है और जिसे प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है, वही आत्मस्वभाव दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

तेरहवी गाथा मे जिसे भूतार्थनय कहा गया था, उसे ही यहाँ शुद्धनय नाम से कहा जा रहा है । वहाँ भूतार्थनय से नवपदार्थो के जानने को सम्यग्दर्शन कहा गया था । यहाँ शुद्धनय से आत्मा के जानने को सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है ।

इस कलश मे शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के जो विशेषण दिये गये है, आगामी गाथा मे भी लगभग वे ही विशेषण दिये है । अत उनकी चर्चा तो विस्तार से वहाँ होगी ही, यहाँ उनके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है । •

सहज ज्ञाता-दृष्टा

नहीं, देखो नही देखना सहज होने दो, जानो नही, जानना सहज होने दो, रमो भी नही, जमो भी नहीं, रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज, जानना सहज, जमना सहज, रमना सहज ।

कर्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ ।

– सत्य की खोज अध्याय ३३, पृष्ठ १८८

समयसार गाथा १४

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णय णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को ।
सयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ॥१४॥

जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित एव अन्य के सयोग से रहित देखता है, जानता है, हे शिष्य तू उसे शुद्धनय जान।

तात्पर्य यह है कि शुद्धनय से भगवान आत्मा कर्मो से अबद्ध है, परपदार्थो ने इसे छुआ तक नहीं है । वह नर-नारकादि पर्यायो मे रहते हुये भी अन्य-अन्य नही होता, अनन्य ही रहता है तथा अपने स्वभाव मे सदा नियत ही है, समस्त विशेषो मे व्याप्त होने पर भी अविशेष ही रहता है तथा रागादि मे सयुक्त नही होता ।

यह गाथा शुद्धनय के विषय को स्पष्ट करनेवाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथा है । इस पर आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, वह भी अत्यन्त गभीर है । गाथा और टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त विषयवस्तु को स्पष्ट करने के लिए पण्डित जयचन्दजी छाबडा ने जो भावार्थ लिखा है, उसका आरम्भिक अश इसप्रकार है –

"आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है –

(१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के सबध से बधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है।

(२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायो मे भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है।

(३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं – यह वस्तुस्वभाव है। इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नही देता ।

(४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणो से विशेषरूप दिखाई देता है ।

(५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि परिणामो से सहित वह सुख-दुख रूप दिखाई देता है ।

यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है । इस दृष्टि से देखा जाय तो यह सब सत्यार्थ है, परन्तु आत्मा का एकस्वभाव इस नय से ग्रहण नही होता और एकस्वभाव जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? इसलिए दूसरे नय को – उसके प्रतिपक्षी शुद्धद्रव्यार्थिकनय को ग्रहण करके एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यो से भिन्न, सर्वपर्यायों मे एकाकार, हानि-वृद्धि से रहित, विशेषो से रहित और नैमित्तिक भावो से रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावो से जो अनेकप्रकारता है, वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।"

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सर्वपर्यायो से भिन्न शब्द का प्रयोग न करके सर्वपर्यायो मे एकाकार शब्द का प्रयोग किया है। उक्त सन्दर्भ मे इसीप्रकार के प्रयोग अन्यत्र भी देखने मे आते हैं, जो अपना विशेष प्रयोजन रखते है । यद्यपि शुद्धनय के विषय मे पर्याये नही आती हैं, तथापि पर्यायो की भिन्नता उसप्रकार की नही है, जिसप्रकार की परद्रव्यों और उनकी पर्यायो की है । इस सन्दर्भ मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के माध्यम से विस्तृत चर्चा ७वीं गाथा मे की ही जा चुकी है ।

नर-नारकादि पर्यायो मे जो परस्पर भिन्नता भासित होती है, उसपर से दृष्टि हटाकर, उन नर-नारकादि सभी पर्यायों मे जो समानरूप से विद्यमान रहता है, एक रूप ही मे रहता है, एकाकार रहता है, उस सामान्य, अभेद, नित्य एव एक आत्मा पर ही दृष्टि को केन्द्रित करना, उसे ही ज्ञान का ज्ञेय बनाना शुद्धनय का उदय है, क्योंकि वह शुद्धात्मा ही शुद्धनय का विषय

है। यह बताने के लिए ही सर्वपर्यायो मे एकाकार शब्द का प्रयोग किया गया है । प्रत्येक अवस्था मे जो एक ही रूप मे सदा विद्यमान रहता है, वह ज्ञायकभाव ही शुद्धनय का विषय है । अनन्य विशेषण के माध्यम से आचार्यदेव यही कहना चाहते है ।

तात्पर्य यह है कि नर-नारकादि पर्याये आत्मा में से वस्तुरूप से अलग नही हो जाती हैं, वे तो अपने क्रमानुसार होती ही रहती हैं, बदलती ही रहती है, कभी मनुष्य पर्याय होती है तो कभी नारकी पर्याय होती है, तथापि क्रमश प्रवर्तमान होनेवाली पर्यायो मे जो सदा एक-सा रहता है, अक्रमरूप से विद्यमान रहता है, अनेकाकार पर्यायो मे जो एकाकाररूप से उपस्थित रहता है, वह ज्ञायकभाव ही शुद्धनय का विषय है ।

दूसरी बात यह है कि भावार्थ मे जो एकस्वभाव और अनेकस्वभाव या अनेकप्रकारता की बात की है, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव मे जो भाव के भेद के रूप मे, गुणभेद और गुणभेद के निषेध के रूप मे एक-अनेक की बात आती है, वह नहीं है । यहाँ तो बद्धस्पृष्टादि पाँच भावो से युक्तता अनेकस्वभाव है और इनसे रहितता एकस्वभाव है । इनमे से आत्मा का एकस्वभाव शुद्धनय का विषय है और अनेकस्वभाव अशुद्धनय का विषय है। — यह बताया जा रहा है ।

प्रश्न — शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एव असयुक्त इन पाँच भावो से युक्त है, एकस्वभाववाला है, तो क्या आत्मा मे विद्यमान बद्धस्पृष्टादिभाव सर्वथा अभूतार्थ है, आत्मा का अनेकस्वभाव सर्वथा अभूतार्थ है?

उत्तर .— बद्धस्पृष्टादिभावों की भूतार्थता-अभूतार्थता पर आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति मे विविध उदाहरणो के माध्यम से विस्तार से प्रकाश डाला है, जो इसप्रकार है —

"अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इसप्रकार एक आत्मा ही प्रकाशमान

है । शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही है, अलग-अलग नहीं ।

प्रश्न :— ऐसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?

उत्तर :— बद्धस्पृष्टादिभावो के अभूतार्थ होने से यह अनुभूति हो सकती है । अब इस बात को पाँच दृष्टान्तो के द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते है —

(१) जिसप्रकार जल मे डूबे हुए कमलिनी पत्र का जल से स्पर्शितपर्याय की ओर से अनुभव करने पर, देखने पर, जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार अनादिकाल से बधे हुए आत्मा का पुद्‌गलकर्मों से बधने, स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि पुद्‌गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(२) जैसे कुण्डा, घडा, खप्पर आदि पर्यायो से मिट्टी का अनुभव करने पर अन्यत्व (वे अन्य-अन्य है, जुदे-जुदे है — यह) भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि सर्वत अस्खलित (सर्वपर्याय भेदो से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार नर-नारकादि पर्यायो से आत्मा का अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि सर्वत अस्खलित (सर्वपर्याय भेदो से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(३) जिसप्रकार समुद्र का वृद्धि-हानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि समुद्र के नित्य स्थिरस्वभाव के समीप

जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार आत्मा का वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदो से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि नित्य स्थिर आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(४) जिसप्रकार सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन, इत्यादि गुणरूप भेदो से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि जिसमे सर्वविशेष विलय हो गए हैं – ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदो से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि जिसमे सर्व विशेष विलय हो गये है – ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(५) जिसप्रकार अग्नि जिसका निमित्त है – ऐसी उष्णता के साथ सयुक्ततारूप – तप्ततारूप अवस्था से जल का अनुभव करने पर जल की उष्णतारूप सयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर उष्णता के साथ जल की सयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

उसीप्रकार कर्म जिसका निमित्त है – ऐसे मोह के साथ सयुक्ततारूप अवस्था से आत्मा का अनुभव करने पर सयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि जो स्वय एकान्त बोधरूप है, ज्ञानरूप है – ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर सयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।"

प्रश्न – उक्त कथन मे लगभग सर्वत्र ही 'पर्याय से अनुभव करने पर' और 'द्रव्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर' शब्द आये है तो क्या पर्याय का भी अनुभव करना है?

उत्तर .– अरे भाई, यह अनुभव करने की बात नहीं है । यहाँ तो जानने की ही बात चल रही है । यहाँ अनुभव करने का अर्थ जानना

है । उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी का निम्नांकित मार्गदर्शन अत्यन्त उपयोगी है –

"जहाँ 'पर्याय से अनुभव करने पर' ऐसा आवे, वहाँ अनुभव करने का अर्थ 'जानना' होगा तथा जहाँ 'द्रव्य का अनुभव करने पर' ऐसा आवे, वहाँ अनुभव करने का अर्थ 'द्रव्य का आश्रय करना' जानना चाहिए ।[१]"

उक्त पाँचो बोलो मे दो दृष्टियो का उल्लेख है –

(१) सयोग की, पर्याय की, भेद की ओर से देखने की दृष्टि ।

(२) स्वभाव के समीप जाकर देखने की दृष्टि ।

सयोग की ओर से, पर्याय की ओर से, भेद की ओर से देखने की दृष्टि अशुद्धनय की दृष्टि है, अभूतार्थनय की दृष्टि है, व्यवहारनय की दृष्टि है, और स्वभाव के समीप जाकर देखने की दृष्टि शुद्धनय की दृष्टि है, भूतार्थनय की दृष्टि है, परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है । अशुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिभाव आत्मा मे विद्यमान है, अत भूतार्थ हैं, सत्यार्थ है, पर शुद्धनय की दृष्टि से वे भाव आत्मा मे नही है, अत अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

ध्यान रहे कि ये बद्धस्पृष्टादिभाव और अबद्धस्पृष्टादिभाव एक ही आत्मा मे एक ही काल मे विभिन्न अपेक्षाओ से एक ही साथ घटित होते हैं, रहते हैं । यह एक ही आत्मा की बात है, भिन्न-भिन्न अनेक आत्माओ की नही। जो आत्मा जिस समय अशुद्धनय से बद्धस्पृष्टादिभावो से सहित होता है, वही आत्मा उसी समय शुद्धनय से बद्धस्पृष्टादिभावो से रहित भी होता है। इसमे कोई क्या करे, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है ।

इस गाथा मे अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त – इन पाँच विशेषणो के माध्यम से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, क्योकि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इसी आत्मा के आश्रय से होती है ।

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २३२

(१) इन पाँच विशेषणो मे अबद्धस्पृष्ट विशेषण आत्मा की पर से भिन्नता को बताता है। जब आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो कर्मों से बंधने की बात ही कहाँ रहती है? इसीप्रकार जब भगवान आत्मा मे स्पर्श नामक गुण ही नही है तो उसे कोई छू भी कैसे सकता है?

आगम मे कर्म से बधने और पर के स्पर्श की जो बात आती है, आत्मख्याति टीका मे उसकी भूतार्थता की अपेक्षा भी स्पष्ट कर दी है और साथ मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखने पर बधन की बात, पर के स्पर्श की बात एकदम अभूतार्थ है । जल मे डूबे हुए कमलिनी पत्र के उदाहरण से यह बात एकदम स्पष्ट हो गई है । यद्यपि कमलिनी का पत्ता जल मे डूबा हुआ है, तथापि वह अपने रूखे स्वभाव के कारण रंचमात्र भी गीला नही होता । उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्मों के मध्य स्थित होने पर अपने अबद्ध-अस्पर्शीस्वभाव के कारण कर्मो से अबद्ध ही है, अस्पर्शी ही है ।

इसप्रकार इस विशेषण से दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को पर से भिन्न सिद्ध किया गया है ।

(२) अनन्य विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को अनेक द्रव्यपर्यायो (असमानजातीय द्रव्यपर्यायो) से, नर-नारकादि पर्यायो से भी पार बताया गया है । मिट्टी और मिट्टी से बने हुए घट, सकोरा आदि बर्तनो के उदाहरण से यह बात भी स्पष्ट हो गई है कि यद्यपि घट और सकोरा अन्य-अन्य हैं, जुदे-जुदे हैं, घट सकोरा नही है और सकोरा घट नही है, तथापि जब हम घट और सकोरा को दृष्टि मे न लेकर जिस मिट्टी से वे दोनो बने हैं, उस मिट्टी के रूप मे ही देखे तो घट भी मिट्टी ही है और सकोरा भी मिट्टी ही है, अत वे दोनो अन्य-अन्य नही, अनन्य (एक) ही हैं ।

इसीप्रकार यद्यपि मनुष्य और नारकी अन्य-अन्य (जुदे-जुदे) ही हैं, मनुष्य नारकी नहीं है और नारकी मनुष्य नही है, तथापि जब हम मनुष्य और

नारकी पर्यायो को दृष्टि मे न लेकर, जिस आत्मा की वे पर्याये हैं, उन सभी पर्यायो मे व्याप्त एकाकार उस आत्मा को देखे तो मनुष्य भी आत्मा ही है और नारकी भी आत्मा ही है; अत नारकी और मनुष्य दोनो अन्य-अन्य नही हैं, अनन्य (एक) ही हैं ।

यदि पर्याय की ओर से देखे तो मारीचि अन्य है और महावीर अन्य है । मारीचि का चरित्र जानकर हमे उसके प्रति अश्रद्धा होती है और महावीर का चरित्र जानकर हमे उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, मारीचि से द्वेष होता है और महावीर से राग होता है, पर जब हमारा ध्यान मारीचि और महावीर पर्याय की ओर नही जाता है, उन दोनो पर्यायो मे अनुस्यूतरूप से विद्यमान भगवान आत्मा की ओर जाता है, तो न अश्रद्धा होती है, न श्रद्धा होती है, साम्यभाव रहता है, न द्वेष होता है न राग होता है, एक वीतरागभाव बना रहता है ।

अत आत्मा को नर-नारकादि पर्यायो मे विभक्त करके अन्य-अन्य देखना वीतरागभाव के लिए उपयुक्त नही है, अपितु नर-नारकादि पर्यायो मे समानरूप से समाहित अनन्य एकरूप देखना ही वीतरागभाव के लिए उपयुक्त है ।

(३) नियत विशेषण के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा मे, दृष्टि के विषय मे षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्याये तथा निरन्तर घटना-बढना है स्वभाव जिनका — ऐसी औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभावरूप पर्याये और क्षायिकभावरूप पर्याये भी नही है । समुद्र के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया गया है ।

यद्यपि समुद्र मे भी ज्वार-भाटे आते हैं, उसमे भी वृद्धि-हानि होती है, तथापि समुद्र अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोडता। यदि समुद्र अपनी मर्यादा छोडने लगे तो लोक मे प्रलय हो जावेगा। छोटी-बडी नदियों मे जब बाढ आती है तो उसके किनारे बसे बडे-बडे नगर एव गाँव उजड जाते हैं, हाहाकार मच जाता है, यदि समुद्र मे बाढ आने लगे तो क्या होगा? समुद्र के किनारे बम्बई जैसे बहुमजिली नगर बसे हुए हैं, किसी

को यह चिन्ता नहीं होती कि यदि समुद्र मे बाढ़ आ गई तो क्या होगा? सभी को समुद्र के इस स्वभाव की भली-भाँति खबर है, इसीकारण सभी निश्चिंत रहते हैं। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि समुद्र भी घटता-बढ़ता है, पर अपनी मर्यादा मे ही रहता है। अत कोई चिन्ता की बात नही है। समुद्र के नियतस्वभाव के भरोसे ही समुद्र के किनारे इस नगरीय सभ्यता का विकास हो रहा है ।

जिसप्रकार समुद्र मे आनेवाले ज्वार-भाटे की ओर से समुद्र को देखे तो वह घटता भी है और बढ़ता भी है, और उसका यह घटना-बढना इस दृष्टि से भूतार्थ ही है, सत्यार्थ ही है, क्योकि इस दृष्टि से समुद्र का स्वभाव अनियत ही है, तथापि यदि समुद्र को उसके नियतस्वभाव की ओर से देखे तो वह न कभी घटता ही है और न कभी बढ़ता ही है, सदा अपनी मर्यादा मे ही रहता है, अत वह नियत ही है, अनियत नही, इस दृष्टि से उसका अनियतपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

द्रव्य होने से आत्मा मे षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्याये भी है और औपशमिकभाव, क्षायिकभाव और क्षायोपशमिकभाव रूप पर्याये भी है । इन पर्यायो की ओर से देखने पर आत्मा भी घटता-बढता है, अत अनियतस्वभाववाला है, अनियत है, पर नित्य स्थिर नियतस्वभाव की ओर से देखने पर यह अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । चूकि शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का स्वभाव नियत है, अत शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा मे यह अनियतता नही है ।

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है –

"इसीप्रकार आत्मा को वृद्धि-हानिरूप पर्यायो से देखे तो अनियतपना कम-बढ़पना है । ज्ञान की पर्याय मे ही हीनाधिकता होती है । किसी समय नौ पूर्व का क्षयोपशम प्रगट हो –ज्ञान की ऐसी पर्याय होती है तो किसी समय अक्षर का अनन्तवाँ भागमात्र ज्ञान का क्षयोपशम देखा जाता है । आलू, लहसुन, मूली आदि कदमूल मे निगोद के जीव हैं । एक राई

जितने टुकडे में असख्यात शरीर हैं । एक-एक शरीर मे आजतक जितने सिद्ध हुए, उनसे अनतगुणे जीव है । निगोद के जीवों की पर्याय में अक्षर के अनन्तवे भाग ज्ञान का विकास है । उसमें से कोई जीव बाहर निकल कर मनुष्य होकर द्रव्यलिगी साधु हो और पर्याय मे नौ पूर्व की लब्धि (क्षयोपशमज्ञान) प्रगट करले ।

इसप्रकार आत्मा के वृद्धि-हानिरूप पर्याय भेदो से देखने पर अनियतपना सत्यार्थ है । व्यवहारनय से पर्याय मे हानि-वृद्धि है – यह सत्य है, तथापि नित्य स्थिर (निश्चल) उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है। आत्मस्वभाव मे वृद्धि-हानि नही है, उत्पाद-व्यय मे वृद्धि-हानि भले हो । पर्याय मे केवलज्ञान हो, तो भी ध्रुवस्वभाव मे कुछ घटता नही है और निगोद मे अक्षर का अनन्तवाँ भाग क्षयोमशम रह जाय, इससे नित्य ध्रुवस्वभाव मे कुछ बढ़ जाय – ऐसा नही है । भले ही पर्याय मे हीनाधिकता हो, तथापि वस्तु तो जैसी है, वैसी ध्रुव-ध्रुव-ध्रुवस्वभाव ही रहती है ।

अहा हा । विषय तो यह चलता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि की पर्यायो मे एकपना नही है, वृद्धि-हानि होती है । पर्याय के लक्ष्य से देखने पर यह वृद्धि-हानि सत्यार्थ है, परन्तु पर्याय के लक्ष्य से त्रिकाली आत्मा अनुभव मे नही आता, तथा आत्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तो त्रिकाली शुद्धज्ञायकभाव का अनुभव करने पर होता है ।[1]"

स्वामीजी के उक्त कथन मे आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि गुणो की औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप पर्यायो मे जो वृद्धि-हानि होती है, शुद्धनय के विषय मे उसका निषेध किया गया है, प्रकारान्तर से उन औपशमिकादि पर्यायों का ही निषेध किया गया है । षट्गुणी हानि-वृद्धि का निषेध तो पण्डित जयचन्दजी छाबडा के भावार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है । छाबडाजी के भावार्थ की पंक्तियाँ इसप्रकार है –

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २३३

"शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं – यह वस्तुस्वभाव है, इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता।"

इसकी व्याख्या स्वामीजी इसप्रकार करते हैं :–

"शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं। ज्ञानादिक पर्याय मे हीनाधिकता होती है । पर्याय मे हीनाधिकता होना – यह पर्यायस्वभाव है, इससे नित्य नियत एकरूप दिखाई नही देता ।[1]"

शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेदो का घटना-बढना षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप ही होता है । अत उक्त कथन से यह भी सिद्ध है कि शुद्धनय के विषय मे षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्याय भी नही आती ।

इस गाथा के भावार्थ मे मुनिराज श्री वीरसागरजी महाराज भी नियत का अर्थ षट्गुणी हानि-वृद्धि से रहित करते हैं ।

प्रश्न :– यह षट्गुणी-हानि वृद्धि क्या है, जिसका निषेध शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा मे नियत विशेषण के माध्यम से किया जा रहा है ?

उत्तर – षट्गुणी हानि-वृद्धि अगुरुलघुगुण की स्वभाव अर्थपर्याय है। जैसा कि अलापपद्धति के पर्यायाधिकार मे कहा गया है –

"अगुरुलघुविकारा: स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपा: षड्ढानिरूपा: अनन्तभागवृद्धि: असंख्यातभागवृद्धि: संख्यातभागवृद्धि: संख्यातगुणवृद्धि: असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धि: इति षट्वृद्धि तथा अनन्तभागहानि: असंख्यातभागहानि: संख्यातभागहानि: संख्यातगुणहानि: असंख्यातगुणहानिः अनन्तगुणहानिः—इति षट्हानि एवं षट्वृद्धि षड्ढानिरूपा ज्ञेया ।[2]

अगुरुलघुगुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थपर्यायें हैं । वे पर्यायें बारह प्रकार की हैं– छह वृद्धिरूप और छह हानिरूप । अनन्तभागवृद्धि,

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २४१

२ आचार्य देवसेन आलापपद्धति, पृष्ठ ५३-५४, प्रकाशक श्री शान्तिवीर दि जैन संस्थान, महावीरजी (राजस्थान)

असख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि—ये छह वृद्धिरूप पर्याये हैं । अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानि, अनन्तगुणहानि—ये छह हानिरूप पर्याये है ।

इसप्रकार छह वृद्धिरूप और छह हानिरूप पर्याये जानना चाहिए ।"

प्रत्येक द्रव्य मे आगमप्रमाण से सिद्ध अनन्त अविभागप्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है, जिसका छह स्थान पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है ।[1]

प्रश्न – औपशमिक भावो मे कर्म का उपशम निमित्त होता है, क्षायोपशमिक भावो मे कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है, क्षायिक भावो मे कर्म का क्षय निमित्त होता है, औदयिकभावो में कर्म का उदय निमित्त होता है । अत शुद्धनय के विषय मे इनके निषेध की बात तो समझ मे आती है, परन्तु इस षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव अर्थपर्यायो मे तो कोई भी कर्म निमित्त नही होता है । यह तो एक सहज परिणमन है । अत शुद्धनय के विषय मे इसके निषेध की क्या आवश्यकता है?

उत्तर :– यह स्वभाव अर्थपर्याय भी वृद्धि-हानि रूप होने से विकल्पोत्पादक है, इसके आश्रय से भी उपयोग स्थिर नही हो सकता । अत ध्यान के ध्येय मे श्रद्धान के श्रद्धेय मे और शुद्धनय के विषय मे इसका भी निषेध अभीष्ट है ।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि नियत विशेषण से शुद्धनय के विषय मे षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायो और औपशमिक, क्षायोपशमिक एव क्षायिक भावरूप अर्थपर्यायो का भी निषेध हो गया है ।

प्रश्न :– जब नियत विशेषण से औपशमिक, क्षायोपशमिक एव क्षायिकभावरूप अर्थपर्यायो का निषेध किया है तो साथ में औदयिकभावरूप अर्थपर्यायो का भी निषेध क्यों नही कर दिया?

---

१ आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सूत्र ७

उत्तर :— उनका निषेध आगे असयुक्त विशेषण के माध्यम से किया जायेगा । अत यहाँ उनके निषेध की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

कलशटीका में अनियत का अर्थ कुछ हटकर किया है, जो इसप्रकार है :—

"असख्यातप्रदेशसम्बन्धी संकोच और विस्ताररूप परिणमन का नाम अनियतभाव है"

प्रदेशो के सकोच-विस्तार रूप तो नर-नारकादि रूप व्यजन पर्याये ही होती हैं, इसीकारण प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यजनपर्याय कहते है । उनका निषेध तो अनन्य विशेषण मे ही किया जा चुका है । अत यदि कलश टीका के उक्त कथन का आशय प्रदेशभेद के निषेध के रूप मे लिया जाय तो भी अयुक्त न होगा ।

आत्मा के क्षेत्र के सम्बन्ध मे एक बात यह भी विचारणीय है कि आत्मा का कोई सुनिश्चित आकार तो है नही, क्योकि जिनागम मे उसे व्यवहार से देहप्रमाण और निश्चय असख्यप्रदेशी कहा गया है । आत्मा के आकार के सम्बन्ध मे द्रव्यसग्रह मे जो कुछ कहा गया है, वह इसप्रकार है —

"अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंख्यदेसो वा ।।[1]

व्यवहारनय से यह जीव समुद्घात को छोडकर सकोच-विस्तार के कारण अपने छोटे या बडे शरीर प्रमाण रहता है और निश्चयनय की अपेक्षा असख्यात प्रदेशी है ।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मोदयानुसार जिस देह मे पहुँच जाता है, आत्मा के प्रदेश वही आकार धारण कर लेते है और ज्यो-ज्यो देह का आकार बदलता है, तदनुसार आत्मा का आकार भी बदलता रहता है । यद्यपि आत्मप्रदेशो के उक्त आकारो के कारण आत्मा को कोई सुख-दुख

१ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्रव्यसंग्रह, गाथा १०

नहीं होता, तथापि वे आकार आत्मा के निरुपाधि आकार तो नहीं माने जा सकते । ऐसी स्थिति में वे आकार आत्मध्यान के ध्येय भी कैसे बन सकते हैं ?

यदि किसी मनुष्यादि देह के आकार मे स्थित आत्मा को ध्यान का ध्येय बनायेंगे तो वह मनुष्यादि पर्याय ही ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बनेगी, जो निश्चित रूप से द्रव्यदृष्टि न होकर पर्यायदृष्टि ही होगी । अत प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए आत्मा के किस आकार का ध्यान किया जाये?

दूसरी बात यह भी है कि मनुष्यादि आकार की बात भी स्थूल है, चलती-फिरती सास लेती मनुष्य देह के भी तो दिन मे हजारो आकार बदलते हैं, तदनुसार आत्मा का आकार भी बदलेगा ही । ऐसी स्थिति मे मनुष्यादि देह के किस आकार को ध्यान का ध्येय बनाया जायेगा?

इस समस्या के समाधान के लिये यदि यह कहा जाय कि सिद्धदशा मे आत्मा जिस आकार मे रहता है, उसी आकार का ध्यान किया जाय, तो भी समस्या का समाधान न होगा, क्योंकि सिद्धों का आकार भी तो अन्तिम देह के अनुसार ही होता है, अन्तिमदेह से किंचत् न्यून होता है। निर्वाण होते समय अन्तिम समय मे देह का जो आकार होगा, सिद्धदशा मे भी किंचित् न्यूनरूप से वही आकार होगा—यह शास्त्रो का वचन है।

वह आकार भी तो आत्मा का निरुपाधि आकार नही हैं, वह भी तो एक प्रकार से देहाकार ही है और यह तो सर्वविदित ही है कि देहाकार के ध्यान से साध्य की सिद्धि नही होती ।

एक बात यह भी तो है चरमदेह की अन्तिम स्थिति पद्मासन और खड्गासन – दोनों रूपो मे से किसी भी रूप मे हो सकती है । ऐसी स्थिति मे हम आत्मा के किस आकार का ध्यान करेंगे - पद्मासन का या खड्गासन का? दोनो का ध्यान तो एकसाथ सम्भव है नही । हमे अभी यह भी तो पता नहीं है कि जब हमारा मोक्ष होगा, तब हमारा आकार पद्मासन

होगा या खड्गासन ? ऐसी स्थिति मे हम किस आसन के आकार का ध्यान करेगे ?

यदि कोई कहे कि हम उन सिद्धो के आकार का ध्यान करेंगे, जो अब तक सिद्ध हो चुके हैं । यदि ऐसा किया गया तो फिर वह ध्यान किसी अन्य का होगा, स्वय का नही । अन्य के ध्यान से कर्म नही कटते, धर्म भी नही होता, शुभभाव हो सकता है, पुण्य भी बन्ध सकता है, पर कर्मों का नाश होकर परमानद प्राप्त नही होता ।

ऐसी स्थिति मे समस्या यह है कि आखिर हम ध्यान मे भगवान आत्मा को किस आकार मे देखे ?

अरे भाई । ध्यान का ध्येय श्रद्धान का श्रद्धेय, शुद्धनय का ज्ञेय, दृष्टि का विषय आत्मा साकार नही, अनाकार है । यह अनाकार आत्मा ही निश्चयनय से असख्यप्रदेशी कहा गया है, उसे किसी आकार का नही बताया। जब भी आत्मा के आकार की चर्चा होती है तो कहा जाता है कि आत्मा व्यवहार से देह प्रमाण और निश्चय से असख्यात प्रदेशी होता है । अत दृष्टि के विषय मे आत्मा का कोई आकार नही आता । अनुभव के काल मे आत्मा का कोई आकार नही दिखता, आनन्द का अनुभव होता है । रहस्यपूर्ण चिठ्ठी मे पण्डित टोडरमलजी लिखते है आत्मानुभूति मे प्रदेशो का प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुभव प्रत्यक्ष होता है ।

जो लोग ऐसा कहते है कि हमे आत्मा का साक्षात्कार हुआ और वह अमुक आकार मे दिखाई दिया, उन्हें उक्त मथन पर गभीरता से विचार करना चाहिये, क्योकि अनुभूति मे तो असंख्यप्रदेशी अखण्ड आत्मा ही अनुभव मे आता है, कोई आकार दिखाई नहीं देता, कोई प्रकाश दिखाई नहीं देता। प्रकाश तो पुद्गल की पर्याय है और आकार देहादि का ही है । अत अनुभूति मे प्रकाश और आकार दिखने की बात कपोलकल्पित ही है ।

४९वीं गाथा मे आत्मा को अनिर्दिष्टसस्थान वाला कहा है । उसका आशय भी यही है कि आत्मा का ऐसा कोई सुनिश्चित आकार नहीं है,

जिसे ध्यान का ध्येय बनाया जाय । अनिर्दिष्टसस्थान की विस्तृत व्याख्या तो यथास्थान ही होगी, यहाँ तो मात्र इतना स्पष्ट करना ही अभीष्ट है कि ध्यान मे भगवान आत्मा का कोई आकार नहीं दिखता । अत शुद्धनय के विषय मे, दृष्टि के विषय मे भी कोई आकार सम्मिलित नहीं है ।

(४) अविशेष विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को गुणभेद से भिन्न बताया गया है । इस बात को सोने का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है । सोने को सोने मे विद्यमान गुणो की ओर से देखें तो सोना पीला है, चिकना है, भारी है, – यह बात सत्य ही है, तथापि जिसमे सर्व विशेष विलय को प्राप्त हो गये है, ऐसे सोने के शुद्धस्वभाव की ओर से देखे तो सोना तो सोना ही है, पीला, चिकना आदि कुछ भी नहीं ।

इसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की ओर से देखने पर भगवान आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, पर जिसमे सर्व विशेष विलय को प्राप्त हो गये है, ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखे तो आत्मा तो आत्मा ही है, न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है।

इस विषय को ७वी गाथा मे विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है । अत यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नही है ।

(५) असयुक्त विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को रागादि विकारी पर्यायो से असयुक्त बताया गया है, भिन्न बताया गया है । इस ब्रात को गर्म जल के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है ।

यद्यपि जल स्वभाव से तो ठडा ही है, तथापि यदि वह अग्नि के सयोग मे रहे तो गर्म हो जाता है । जब वह गर्म होता है, तब भी स्वभाव से तो ठडा ही रहता है । तात्पर्य यह है कि वह अपने शीतलस्वभाव को कभी छोडता नही है । यद्यपि यह बात भी सत्य है कि कोई व्यक्ति जल के शीतलस्वभाव से अभिभूत होकर खोलते हुए गर्म पानी मे हाथ डाल दे तो जले बिना नहीं रहेगा, तथापि यह भी सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति जल को गर्म जानकर उसका पीना ही बन्द कर दे तो भी प्यासा ही रहेगा।

जिसप्रकार शीतलता जल का स्वभाव है और गर्म होना सयोगीभाव है, विभावभाव है, उसीप्रकार रागादि से असयुक्त रहना आत्मा का स्वभाव है और रागादि से सयुक्त होना आत्मा का विभावभाव है। शुद्धनय का विषय स्वभाव ही होता है, अत शुद्धनय का विषयभूत आत्मा रागादि से असंयुक्त ही है ।

इसप्रकार शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को उक्त पाँच विशेषणो मे से एक विशेषण के माध्यम से अर्थात् अबद्धस्पृष्ट विशेषण के माध्यम से पर से भिन्न, एक विशेषण के माध्यम से अर्थात् अविशेष विशेषण के माध्यम से गुणभेद से भिन्न एव शेष तीन विशेषणो के माध्यम से पर्यायो से भिन्न बताया गया है । पर्यायो मे अनन्य विशेषण के माध्यम से नर-नारकादि असमानजातीय व्यजनपर्यायो से भिन्न, नियत विशेषण के माध्यम से षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव अर्थपर्यायो से भिन्न एव औपशमिक, क्षायोपशमिक एव क्षायिक भावो से भिन्न एव असयुक्त विशेषण से औदयिक भावो से, रागादि विकारीभावो से भिन्न बताया गया है ।

प्रदेशभेद से भिन्नता को गुणभेद से भिन्न मे गर्भित जानना चाहिए, क्योंकि आत्मा मे गुणो के समान ही प्रदेशो की स्थिति है । जिसप्रकार यह भगवान आत्मा अनन्तगुणात्मक होकर भी एक है, उसीप्रकार असख्यप्रदेशी होकर भी अभेद है । जिसप्रकार आत्मा मे गुण हैं, पर गुणभेद नही, उसीप्रकार आत्मा मे प्रदेश हैं, पर प्रदेशभेद नही ।

प्रदेशभेद से भिन्नता को व्यजनपर्यायो से भिन्नता मे भी गर्भित किया जा सकता है, क्योंकि व्यजनपर्याये आत्मा के आकार से ही सबंधित है और प्रदेशत्वगुण के विकार को ही व्यंजनपर्याय कहते हैं ।

कलशटीका के अर्थ के अनुसार विचार करें तो प्रदेशभेद के निषेध की बात नियत विशेषण से भी ली जा सकती है ।

इसप्रकार प्रदेशभेद की बात को विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्य, नियत और अविशेष विशेषणो मे से किसी से भी ली जा सकती है या फिर तीनो से ही ली जा सकती है ।

भगवान आत्मा को व्यजनपर्याय से भिन्नता के कारण अनन्य विशेषण में देह से भिन्न, अबद्धस्पृष्ट विशेषण मे द्रव्यकर्म से भिन्न, असंयुक्त विशेषण मे भावकर्म से भिन्न, नियत विशेषण मे पर्यायों से पार, सर्वपर्यायों मे एकाकार और अविशेष विशेषण मे गुणभेद से भिन्न बता दिया है और विभिन्न अपेक्षाओं से प्रदेशभेद का भी निषेध कर दिया गया है । इसप्रकार जो नय आत्मा को देह से भिन्न, द्रव्यकर्म-भावकर्म से भिन्न, पर्यायो से पार, सर्वपर्यायो मे एकाकार और गुणभेद से भिन्न, प्रदेशभेद से भिन्न असख्यातप्रदेशी एक बताये, वह शुद्धनय है । यह सहज ही प्रतिफलित हो गया ।

छठवीं-सातवी गाथा मे दृष्टि के विषयभूत जिस शुद्धात्मा का प्रतिपादन किया गया था, उसे ही यहाँ अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त विशेषणो से समझाया गया है।

अब आगामी कलश मे इसी शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं । कलश मूलत इसप्रकार है –

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥११॥

(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो॥११॥

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव मे प्रतिष्ठा को प्राप्त नही करते, मात्र ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारो ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व-अवस्थाओ मे प्रकाशमान है, आत्मा के

उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियो । तुम मोहरहित होकर अनुभव करो।

उक्त छन्द मे शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावो से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओ मे प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे एकत्व का मोह तोडो, उन्हें अपना मानना छोडो ।

चूंकि अनुभव मे श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि गुणो की सभी अन्तरोन्मुखी पर्याये शामिल होती है, अत यहाँ अनुभव करने का आशय यह है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को ही जानो, उसमे ही अपनापन स्थापित करो और उसमे ही स्थिर हो जावो, लीन हो जावो, जम जावो, रम जावो, समा जावो, उसका ही ध्यान करो, उसे ध्यान का ध्येय बनाओ । एकमात्र करने योग्य कार्य तो यही है, सच्चा धर्म भी यही है, मुक्ति का मार्ग भी यही है, परमसुखी होने का उपाय भी यही है ।

अब आगे बारहवे कलश मे कहते है कि यह शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा स्वय ही देवाधिदेव है । कलश मूलत इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

भूत भातमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बध सुधी-
र्यद्यन्त किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोह हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुव
नित्य कर्मकलकपक विकलो देव स्वय शाश्वत: ॥१२॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत्।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥
तो निज अनुभवगम्य आत्मा सदा विराजित।
विरहित कर्मकलकपक से देव शाश्वत ॥१२॥

यदि कोई बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव अपने आत्मा को भूत, वर्तमान और भविष्य काल सबधी कर्मो के बध से भिन्न करके देखे, बद्धस्पृष्टादि भावो के प्रति एकत्व के मोह को अपने पुरुषार्थ से बलपूर्वक दूर करके अतरग मे देखे तो अनुभवगम्य महिमा का धारक यह निजभगवान आत्मा कर्मकलकरूपी कीचड से अलिप्त, निश्चल, नित्य, शाश्वत स्वय देवाधिदेव के रूप मे ही दिखाई देता है, क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत निजभगवान आत्मा तो सदा ही देहदेवल मे बद्धस्पृष्टादिभावो से रहित विराजमान हे ।

भगवान दो प्रकार के होते है – एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरो मे विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्माओ की नित्य उपासना करते हैं, भक्ति करते है, पूजन करते है, जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते है, भावना भाते है । ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते है ।

दूसरे देहदेवल मे विराजमान शुद्धनय का विषयभूत निजभगवान आत्मा भी परमात्मा है, भगवान है और इसे कारणपरमात्मा कहते है ।

इस कारणपरमात्मा की ही चर्चा इस १२वे कलश मे की गई है ।

मन्दिर मे विराजमान परमात्माओ के दर्शन का नाम देवदर्शन है और उससे हमे सातिशय पुण्य का बध होता है, पर देहदेवल मे विराजमान भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है और इससे किसी कर्म का बध नही होता, अपितु बध का अभाव होता है, कर्मबधन कटते हैं ।

इस त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है, यह ससारी आत्मा पर्याय मे परमात्मा बनता है, सच्चा देव बनता है, इसकारण वह देवाधिदेव है । वह शाश्वत है, नित्य है, सदा ही कर्मकलकरूपी पक से विकल है, कर्मो से अबद्धस्पृष्ट है, अनन्य है, नियत है, अविशेष है, असयुक्त है, अनुभवगम्य है, एकमात्र आराध्य भी वही है और उसकी आराधना ही परमधर्म है ।

यह भगवान आत्मा तेरे भीतर ही विराजमान है, तू ही है; फिर भी यह अज्ञानी जगत इसे बाहर मे खोजता है । यह बडी भारी भूल है । इसी भूल के कारण ही यह अज्ञानी जगत महादुखी है । इस दुख को दूर करने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा देहदेवल मे विराजमान इस आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है, इसमे अपनापन होना ही सम्यग्दर्शन है, इसमे जमना-रमना ही सम्यक्चारित्र है । इसे जानना, पहिचानना, इसमे जमना-रमना ही मोह को हटात् हटाने का पुरुषार्थ है, इसके अतिरिक्त कोई क्रिया ऐसी नहीं है, जो मोह का नाश कर सके, शेष क्रियाये तो बध को बढ़ानेवाली ही हैं ।

इस आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है । अत एक इस आत्मा मे ही निश्चल हो जाना चाहिए । यह बात आगामी कलश मे व्यक्त करते हैं, जो इसप्रकार है –

(वसततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥१३॥

(रोला)

शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो ।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके ।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥१३॥

इसप्रकार जो शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव मे ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर तथा आत्मा मे आत्मा को निश्चल स्थापित करके ज्ञान के घनपिण्ड और नित्य इस आत्मा को सदा ही देखना-जानना चाहिए ।

यहाँ ज्ञान और आत्मा को एक मानकर ही बात की गई है । इसकारण ही आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है । ज्ञान आत्मा का गुण है और आत्मा गुणी द्रव्य है। गुण-गुणी को अभेद मानकर आत्मानुभूति को ज्ञानानुभूति कहा है । ज्ञानगुण आत्मद्रव्य का लक्षण है । आत्मा की पहिचान ज्ञानगुण से ही होती है । इसलिए लक्ष्य-लक्षण के अभेद से भी ज्ञान को आत्मा कहा जाता है ।

इसीप्रकार यहाँ आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका कहा गया है । शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा की अनुभूति ही आत्मानुभूति कहलाती है, इसकारण ही यहाँ आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका कहा गया है ।

शुद्धनय और उसके विषयभूत आत्मा की चर्चा विस्तार से की जा चुकी है । अत यहाँ उस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नही है । यह कलश आगामी गाथा की उत्थानिकारूप कलश है । आगामी गाथा मे आत्मानुभूति को समस्त जिनशासन की अनुभूति कहा गया है । अत इस कलश मे भी आत्मानुभूति की ही प्रेरणा दी गई है। यह कलश मूलत प्रेरणा देनेवाला कलश ही है ।

आचार्य अमृतचन्द्र की यह विशेषता है कि वे टीका मे तो गाथा के मर्म को खोलते हैं, गाथा के भाव को तर्क और युक्तियो से सिद्ध करते हैं, उदाहरणो से पाठको के गले उतारते हैं और कलशो के माध्यम से उसे जीवन मे उतारने की प्रेरणा देते हैं । इसकारण कलशो की व्याख्या मे अधिक कुछ कहने को नही होता, क्योंकि उन्हें जो कुछ कहना होता है, वह तो वे टीका मे ही कह चुकते हैं, कलश मे तो उसी की गहराई मे जाने की बात कहते हैं ।

टीका लिखते समय आचार्य अमृतचन्द्र का बुद्धिपक्ष सजग रहता है और कलशो में उनका हृदय हिलोरें लेने लगता है । बुद्धि को तर्क-वितर्क के माध्यम से वस्तु की गहराई मे जाने की टेब होती है और हृदय मे भावना का बेग उमडता है । यही कारण है कि उनकी गद्यात्मक टीका मे तत्त्व

की गहराई से मीमासा होती है और कलशो से हृदय को छू लेनेवाली पावन प्रेरणा प्राप्त होती है ।

इसप्रकार उनकी यह आत्मख्याति टीका एकप्रकार से चम्पूकाव्य बन गई है । चम्पूकाव्य की परिभाषा ही यही है –

"**गद्य-पद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते**–गद्य और पद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं ।"

यद्यपि चम्पूकाव्य का उपयोग मूलत कथा साहित्य मे पाया जाता है, जैसे – जीवन्धरचम्पू, पुरुदेवचम्पू आदि, क्योकि इस विधा की प्रकृति कथासाहित्य के ही अनुकूल है, तथापि आचार्य अमृतचन्द्र ने इस टीकाग्रन्थ मे भी इसका सफल प्रयोग किया है ।

आत्मानुभूति की पावन प्रेरणा देनेवाले इस कलश के बाद अब आगामी गाथा मे कहते है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत उक्त आत्मा की अनुभूति करता है, उसे जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है।

•

विवेक अविवेक का खेल

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है, और जहाँ अविवेक है वहाँ कलह है, विनाश है । समय तो एक ही होता है, पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों मे सलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते है, उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एव प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित मे सलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते है। वे स्वय तो आनन्दित रहते ही है, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते है ।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावो की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है। यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है ।

–सत्य की खोज, पृष्ठ १८४

समयसार गाथा १५

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
***अपदेससतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥**

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को ।
द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे ॥१५॥

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असयुक्त) देखता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है । वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है ।

१४वी गाथा मे शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के जो पाँच विशेषण दिये गये है, उनमे से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष — ये तीन विशेषण तो इस गाथा मे वैसे के वैसे ही दुहराये गये है । इससे प्रतीत होता है कि वे इन विशेषणो के माध्यम से इस गाथा मे भी उसी आत्मा की चर्चा कर रहे है, जिसकी चर्चा १४वी गाथा मे की गई थी, गाथा मे स्थान न होने से नियत और असयुक्त विशेषणो का उल्लेख नही हो पाया है । अत उपलक्षण से इन्हे भी शामिल कर लेना उचित ही है ।

शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के उक्त विशेषणो पर १४वी गाथा मे गहराई से मथन हो चुका है । अत अब यहाँ उन पर विशेष चर्चा करना आवश्यक नही है । यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की आत्मख्याति मे इनकी चर्चा विशेष नही की है, अपितु गाथा के उत्तरार्द्ध को मुख्य बनाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जानने से सर्वश्रुत किसप्रकार जान लिया जाता है।

---

* पाठान्तर अपदेशसुत्तमज्झं

सम्पूर्ण जिनागम का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य शुद्धनय का विषयभूत यह भगवान आत्मा ही है । अथवा यह भी कह सकते है कि जिनशासन का प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु शुद्धनय का विषयभूत यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त भाववाला भगवान आत्मा ही है, क्योकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग इसी भगवान आत्मा के आश्रय से होता है ।

उक्त सदर्भ मे "तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ" का निम्नाकित कथन द्रष्टव्य है —

"भगवान महावीर के उपदेशो का केन्द्रबिन्दु आत्मा है । अत आत्मतत्त्व के प्रतिपादन के लिए परद्रव्यो का जितना और जो कथन आवश्यक है, उतना और वही कथन उनकी वाणी मे मुख्यरूप से आया है । जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यो का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है, क्योकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने मे है ।

पर को मात्र जानना है और अपने जीव को जानकर उसमे जमना है, रमना है । पर को जानकर उससे हटना है और जीव को अर्थात् स्वजीव को जानकर उसमे डटना है। पर को जानकर उसे छोडना है और स्व को जानकर उसे पकडना है, जकडना है ।

तीर्थंकर महावीर की प्रतिपादन शैली की यह मुख्य पकड है । इसे जाने बिना उनके प्रतिपादन के निष्कर्ष बिन्दु को पकड पाना सभव नही है ।[१]"

उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्ण जिनशासन (जिनागम) का एकमात्र उद्देश्य ससार के दुखी प्राणियो को ससार दुख से मुक्त होकर सुखी होने का मार्ग बताना है। वह मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप है और ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धनय के विषयभूत आत्मा

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ, पृष्ठ ९४

के आश्रय से प्रगट होते है, अत मूलरूप से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानना ही आवश्यक रहा। अत यह कहना उपयुक्त ही है कि जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है।

वह जिनशासन द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप है । द्रव्यश्रुत द्वादशाग जिनवाणी को कहते है और उसे अथवा उसके प्रतिपाद्य को जाननेवाली श्रुतज्ञानपर्याय को भावश्रुत कहते हैं ।

'अपदेशसुत्तमज्झ' का अर्थ आचार्य जयसेन इसप्रकार करते हैं –

"जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय, वह अपदेश, इसप्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है, जिससे कि यहाँ पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्तिरूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है, उसे ग्रहण करना, इसप्रकार जो द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो, वह अपदेश सूत्रमध्य कहा जाता है ।[१]"

उक्त कथन का सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि शुद्धनय का विषयभूत जो भगवान आत्मा द्रव्यश्रुत के द्वारा कहा गया है और भावश्रुत के द्वारा जाना गया है, उसे ही यहाँ अपदेश-सुत्तमज्झ कहा गया है । इसप्रकार सम्पूर्ण गाथा का अर्थ यह हुआ कि जो पुरुष द्रव्यश्रुत से वाच्य एव भावश्रुत से ज्ञेय, अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एव असयुक्त आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वह समस्त जिनशासन को जानता है । तात्पर्य यह है कि जो जैनागम के माध्यम से या उसके उपदेशदाता जिनवरदेव या जिनगुरुओ के माध्यम से, ज्ञानी धर्मात्माजनो के माध्यम से निजभगवान आत्मा को जानकर उसका अनुभव करता है, आत्मानुभूति से सम्पन्न होता है, वही समस्त जिनशासन का मर्मज्ञ है । और भी अधिक स्पष्ट कहें तो यह कह सकते है कि देशनालब्धिपूर्वक करणलब्धि पार कर जो आत्मानुभवी हुए है, वे ही समस्त जिनशासन के मर्मज्ञ हैं ।

---

१ समयसार की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका का आचार्य ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी अनुवाद ।

इस सदर्भ मे स्वामीजी का कथन भी द्रष्टव्य है –

"अन्तर मे एकरूप परमात्मतत्त्व की प्रतीति व रमणता करना ही शुद्धोपयोग है, जैनशासन है । यह जैनशासन "**अपदेशान्तमध्य**" अर्थात् बाह्यद्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है । जयसेनाचार्य की टीका मे आता है कि बाह्यद्रव्यश्रुत मे ऐसा ही कहा है कि अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करना ही जैनशासन है । बारहअगरूप वीतरागवाणी का यही सार है कि शुद्धात्मा का अनुभव कर । द्रव्यश्रुत वाचक है, अन्दर भावश्रुतज्ञान उसका वाच्य है । द्रव्यश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करता है ।

पण्डित श्री राजमलजी ने कलश १३ मे बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है ।

शिष्य ने पूछा – इस प्रसग मे दूसरी यह भी शका होती है कि कोई जानेगा कि द्वादशागज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है ?

उसका समाधान – द्वादशागज्ञान विकल्प है । उसमे भी ऐसा ही कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, वीतरागी शुद्धात्मा का अनुशरण करने पर जो अनुभव होता है, वह अनुभूति मोक्षमार्ग है । ऐसी वस्तु को जानने के बाद विकल्प आवे तो शास्त्र बाँचे, किन्तु ऐसे जीवो को शास्त्र पढने की कोई अटक नही है अर्थात् शास्त्र पढे बिना चले नही – ऐसा नही है।[1]"

शास्त्रो के स्वाध्याय का मूल प्रयोजन तो एकमात्र दृष्टि के विषयभूत निजभगवान आत्मा को जानना है, क्योकि उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की उत्पत्ति होती है । दृष्टि का विषय और शुद्धनय का विषय एक ही है । अत जब शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जान लिया तो फिर शास्त्र पढने की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है, फिर भी ज्ञानी धर्मात्माओ की रुचि के अनुकूल होने से एव उपयोग की विशुद्धि के लिए, उपयोग अन्यत्र न भटके – इसके लिए ज्ञानी धर्मात्मा

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ २६०

भी स्वाध्याय करते हैं और करना भी चाहिए । बात स्वाध्याय नही करने की नही है, अपितु यहाँ तो मात्र इतना बताया गया है कि आत्मानुभूति हो जाने पर वह अनिवार्य नही रहता ।

गाथा का मूल अभिप्राय तो यही है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अवशेष और असयुक्त निज-आत्मा को द्रव्यश्रुत और भावश्रुत से जानते है, अनुभूतिपूर्वक जानते है, वे सर्व जिनशासन को जानते है ।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति मे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है।

"जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त — ऐसे पाचभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योकि श्रुतज्ञान स्वय आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है ।

किन्तु जब सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव से ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव मे आता है, तथापि जो अज्ञानी है, ज्ञेयो मे आसक्त है, उन्हे वह स्वाद मे नही आता ।

अब इसी बात को विस्तार से दृष्टान्त देकर समझाते है — जिसप्रकार अनेक प्रकार के व्यजनो के सबध से उत्पन्न सामान्यलवण का तिरोभाव और विशेषलवण के आविर्भाव से अनुभव मे आनेवाला जो लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी व्यजनलोलुप मनुष्यो को आता है, किन्तु अन्य के सबधरहितता से उत्पन्न सामान्य के अविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव मे आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नही आता । यदि परमार्थ से देखे तो विशेष के अविर्भाव से अनुभव मे आनेवाला लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव मे आनेवाला लवण है ।

इसीप्रकार अनेकप्रकार के ज्ञेयो के आकारो के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव मे आनेवाला (विशेष

भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान, अज्ञानी – ज्ञेयलुब्ध जीवो के स्वाद मे आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकारो के सयोग की रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव मे आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद मे नही आता । यदि परमार्थ से देखे तो जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव मे आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव मे आता है ।

जिसप्रकार अन्यद्रव्य के सयोग से रहित केवल सैधव (नमक) का अनुभव किए जाने पर सैधव की डली सभी ओर से एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से ही स्वाद मे आती है, उसीप्रकार परद्रव्य के सयोग का व्यवच्छेद करके केवल एक आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर चारो ओर से एक विज्ञानघनता के कारण यह आत्मा भी ज्ञानरूप से ही स्वाद मे आता है ।"

टीका मे समागत भाव की चर्चा करने से पहले विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए इस टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त जो भावार्थ पण्डित जयचन्दजी छाबडा ने लिखा है, उसे देख लेना भी उपयोगी रहेगा । वह भावार्थ इसप्रकार है –

"यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है । अज्ञानीजन ज्ञेयो मे ही, इन्द्रियज्ञान के विषयो मे ही लुब्ध हो रहे है । वे इन्द्रियज्ञान के विषयो से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते है, परन्तु ज्ञेयो से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नही करते और जो ज्ञानी है, ज्ञेयो मे आसक्त नही है, वे ज्ञेयो से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते है, जिसप्रकार शाको से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते है, क्योंकि जो ज्ञान है, सो आत्मा है और आत्मा है, सो ज्ञान है ।

इसप्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि मे आनेवाला सर्व परद्रव्यो से भिन्न अपनी पर्यायो मे एकरूप निश्चल, अपने गुणो मे एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावो से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है । शुद्धनय से इसमे कोई भेद नही है ।"

उक्त टीका व भावार्थ मे एक बात विशेष कही गई है कि आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है । उत्थानिका के कलश मे भी इसी बात को विशेष बल देकर कहा गया है कि शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है । टीका के आरभ मे कहा गया है कि जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त ऐसे पाचभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योकि श्रुतज्ञान स्वय आत्मा ही है । इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है ।

उक्त कथन का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते है —

"श्रुतज्ञान स्वय आत्मा ही है । भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धोपयोग से जो आत्मा का अनुभव हुआ, वह आत्मा ही है, क्योकि रागादि आत्मा नही, अनात्मा है । धर्मी को भी अनुभूति के पश्चात् जो राग आता है, वह अनात्मा है । द्रव्यश्रुत मे भी यही कहा है और यही अनुभव मे आया । इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है, क्योकि भावश्रुत मे जो त्रिकाली वस्तु ज्ञात हुई, वह वीतरागस्वरूप है और उसकी जो अनुभूति प्रगट हुई — वह वीतराग परिणति है ।

भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है, उसका पर्याय मे अनुभव हुआ, वह भावश्रुतज्ञान है, शुद्धोपयोग है, आत्मा की ही जाति का होने से आत्मा ही है । अनुभूति मे पूरे आत्मा का नमूना आया, इसलिए वह आत्मा ही है । इसे द्रव्य की अनुभूति कहो या ज्ञान की अनुभूति कहो — एक ही चीज है । 'ही' शब्द लिया है। यह सम्यक्-एकान्त है ।[1]"

द्रव्य और शुद्धपर्याय को अभेद करके कहनेवाले कथन परमागम मे बहुत है । उक्त कथन भी इसीप्रकार का है । शुद्धनय के विषय को भी 'शुद्धनय' इसी अपेक्षा से कहा जाता है। आगे १६वीं गाथा मे भी कहेगे कि परमार्थ से देखा जाये तो ये तीनो एक आत्मा ही है, क्योकि वे अन्य वस्तु नही है, आत्मा की ही पर्याय है ।

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६१

इस पन्द्रहवीं गाथा की टीका की विशेष बात तो यह है कि इसमे सामान्यनमक और विशेषनमक का उदाहरण देकर सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान के आविर्भाव और तिरोभाव को समझाया गया है ।

यद्यपि नमक तो नमक ही है और वह एकप्रकार का ही होता है, तथापि उसे सामान्यनमक और विशेषनमक के रूप मे दो भागो मे विभाजित कर दिया जाता है। शुद्धनमक अर्थात् किसी पदार्थ मे मिश्रित न होनेवाले नमक को सामान्यनमक कहते है और शाकादि खाद्यपदार्थ मे मिश्रित नमक को विशेषनमक कहते है ।

शाकादि मे मिश्रित होने पर भी नमक तो नमक ही रहता है, वह अपने खारेपन को छोड नही देता, वह तो जहाँ भी रहता है, खारा ही रहता है । तात्पर्य यह है कि वह वास्तव मे तो खारेपन मे ही रहता है, अन्य कही जाता ही नही ।

इसीप्रकार ज्ञान तो ज्ञान ही है और वह एक प्रकार का ही होता है, तथापि उसे सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान के रूप मे दो भागो मे विभाजित कर दिया जाता है । शुद्धज्ञान को सामान्यज्ञान कहते है और ज्ञेयाकार ज्ञान को विशेषज्ञान कहते है । ज्ञेयो को जाननेवाले ज्ञान को ज्ञेयाकार ज्ञान कहते है, क्योकि ज्ञानपर्याय मे उन ज्ञेयो के आकार प्रतिबिम्बित होते है ।

यद्यपि ज्ञान तो सदा ज्ञानाकार ही रहता है । ज्ञेयो को जानने के काल मे भी वह अपने ज्ञानाकार को नही छोडता, तथापि ज्ञेयो के प्रतिबिम्बित होने से उसे ज्ञेयाकार भी कहा जाता है । ज्ञेयो के प्रतिबिम्बित होने से ज्ञेयो के आकार के जो आकार ज्ञान मे बनते है, वे आकार स्वय ज्ञान के ही है, ज्ञेयो के नही, फिर भी उन्हे कहा तो ज्ञेयाकार ही जाता है।

अकेला नमक कोई नही खाता, सभी लोग किसी न किसी खाद्यपदार्थ मे मिलाकर ही नमक खाते है । अत स्वाद के लोलुपी लोगो को नमक के असली स्वाद का अनुभव नही होता। पूर्वपुरुषो से सुनकर या पुस्तको मे पढकर भले ही वे यह कहते हो कि नमक खारा होता है, फिर भी

उन्हे नमक के खारेपन का अनुभव नही होता, बात मात्र बातो तक ही सीमित रहती है ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी जगत ने अकेले आत्मा को कभी नहीं जाना, शरीरादि सयोगो मे, बद्धस्पृष्टादिभावो मे ही देखा-जाना है, अत उन्हें आत्मा का अनुभव नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता । शास्त्रो मे पढकर या गुरुमुख से सुनकर वे भले ही यह कहते हो कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, शरीरादि से भिन्न है, अबद्धस्पृष्टादिभावो से युक्त है, पर उन्हे शरीरादि से भिन्न, अबद्धस्पृष्टादिभावो से युक्त, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव नहीं होता, बात मात्र बातो तक ही सीमित रहती है ।

जब कोई स्वादलोलुप मनुष्य शाकादि मे मिश्रित नमक खाता है तो उसके स्वाद मे सामान्यनमक का तिरोभाव और विशेषनमक का आविर्भाव हो जाता है, किन्तु जब शाकादि अन्यद्रव्य के सयोग से रहित केवल शुद्धनमक खाया जाता है तो विशेषनमक का तिरोभाव और सामान्यनमक का अविर्भाव हो जाता है, क्योकि उस समय वह शुद्धनमक खारा-खारा ही लगता है ।

इसीप्रकार जब कोई ज्ञेयलुब्ध व्यक्ति ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव करता है, ज्ञेयाकार ज्ञान का अनुभव करता है, तब उसके ज्ञान मे सामान्यज्ञान का तिरोभाव और विशेषज्ञान का अविर्भाव हो जाता है, किन्तु जब कोई ज्ञानी अन्य ज्ञेयाकारो के सयोग की रहितता से केवल ज्ञान का अनुभव करता है तो विशेषज्ञान का तिरोभाव और सामान्यज्ञान का अविर्भाव हो जाता है।

यह सामान्यज्ञान का अविर्भाव होना ही ज्ञानानुभूति है, आत्मानुभूति है, शुद्धनय का उदय होना है ।

इसप्रकार ये सुनिश्चित हुआ कि आत्मानुभूति के काल मे सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेषज्ञान का तिरोभाव हो जाता है ।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते है –

"सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव हो, तब ज्ञान प्रगट अनुभव मे आता है । देखो, रागमिश्रित

ज्ञेयाकार ज्ञान जो पूर्व मे था, उसकी रुचि छोडकर और ज्ञायक की रुचि का परिणमन करके सामान्यज्ञान का पर्याय मे अनुभव करने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव व विशेषज्ञान का तिरोभाव कहते है ।

यह पर्याय की बात है । ज्ञान की पर्याय मे अकेला ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का वेदन होने और शुभाशुभ ज्ञेयाकार ज्ञान के ढक जाने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव कहते है और इसतरह ज्ञानमात्र का अनुभव करते हुए ज्ञान आनन्दसहित पर्याय मे अनुभव मे आता है । यहाँ सामान्यज्ञान का आविर्भाव अर्थात् त्रिकालीभाव का आविर्भाव– यह बात नही है । सामान्यज्ञान अर्थात् शुभाशुभ ज्ञेयाकार रहित अकेले ज्ञान का पर्याय मे प्रगटपना। अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव – यह सामान्यज्ञान का अविर्भाव है । ज्ञेयाकार रहित अकेला प्रगटज्ञान सामान्यज्ञान है और इसका विषय त्रिकाली है ।

जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयो मे आसक्त है, उन्हे यह आत्मा स्वाद मे नही आता । चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा की जिन्हें रुचि नही है, ऐसे अज्ञानी जीवो को या जो परज्ञेयो मे आसक्त है, व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहार रत्नत्रय के परिणामो मे आसक्त है, शुभाशुभ विकल्पो के जानने मे रुक गये है, ऐसे ज्ञेयलुब्ध जीवो को आत्मा के अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का स्वाद नही आता ।[१]"

प्रश्न :– यह तो अनुभव के काल की बात हुई । अनुभव के काल मे तो सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेषज्ञान का तिरोभाव रहता ही है, पर प्रश्न तो यह है कि जिन्हे आत्मा का अनुभव हो गया है और जो अभी भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा है, क्या उन्हें परज्ञेयो को जानते समय भी सामान्यज्ञान का आविर्भाव होता है ?

उत्तर – हाँ, हो सकता है, पर इसकी विवक्षा को अच्छी तरह समझना होगा । जिस व्यक्ति ने बिना किसी शाकादि पदार्थ मे मिलाये नमक की

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६२

डली का स्वाद चखा है, उसे नमक के स्वाद का ज्ञान डली खाते समय ही नही रहता, अपितु अच्छी तरह कुल्ला कर लेने के बाद भी रहता है। अन्तर मात्र इतना ही है कि खाते समय वह स्वाद प्रत्यक्षज्ञान के रूप मे रहता है और खाने के बाद धारणाज्ञान के रूप मे, स्मृतिज्ञान के रूप मे, प्रत्यभिज्ञान के रूप मे रहता है ।

धारणाज्ञान के रूप मे तो निरन्तर ही रहता है, स्मृति-प्रत्यभिज्ञान के रूप मे कभी रहता है, कभी नही रहता है । शाकादि खाते समय जब विशेषनमक का स्वाद प्रत्यक्ष आ रहा होता है, तब उसे सामान्यनमक की स्मृति भी हो सकती है और ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी हो सकता है कि इस शाक मे जो नमक का स्वाद आ रहा है, वह वही डली जैसा नमक है, जिसे मैने चखा था ।

इसीप्रकार आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्माओ को आत्मा का ज्ञान अनुभव के काल मे तो अनुभवप्रत्यक्ष के रूप मे रहता है और अन्यकाल मे धारणाज्ञान के रूप मे, स्मृतिज्ञान के रूप मे, प्रत्यभिज्ञान के रूप मे रहता है ।

अनुभवप्रत्यक्ष मे आया भगवान आत्मा ज्ञानी धर्मात्माओ के धारणाज्ञान मे तो सदा रहता ही है, किन्तु जब उसका ज्ञान अन्य ज्ञेयो को जानता है, तब भी उसे आत्मा की स्मृति हो सकती है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी हो सकता है कि ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान मे जो ज्ञान का ज्ञान हो रहा है, वह वही ज्ञान है, जिसे अनुभवज्ञान मे जाना गया था ।

इसप्रकार अनुभव के काल से भिन्न समय मे भी सामान्यज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। धारणाज्ञान की अपेक्षा तो वह सदा ही रहता है, पर स्मृति-प्रत्यभिज्ञान के समय कभी-कभी ही होता है ।

१५वी गाथा का निष्कर्ष निकालते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यहाँ तीन बाते आई हैं –

(१) एक तो परद्रव्य और पर्याय से भी भिन्न, अखण्ड, एक शुद्ध, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का अनुभवनरूप भावश्रुतज्ञान ही शुद्धनय है ।

(२) दूसरे शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य का अनुभव ही शुद्धनय है और यही जैनशासन है।

(३) तीसरे त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव का वर्तमान मे भावश्रुतज्ञानरूप अनुभव जैनशासन है, क्योंकि भावश्रुतज्ञान वीतरागी ज्ञान है, वीतरागी पर्याय है ।[1]"

गाथा मे जिस शुद्धनय के विषय को जानने को सर्व जिनशासन का जानना कहा गया है, शुद्धनय का विषयभूत वह भगवान आत्मा हमारे ज्ञान मे नित्य प्रकाशित रहे – ऐसी भावना आगामी कलश मे व्यक्त की गई है ।

कलश मूलत इसप्रकार है –

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुल ज्वलदनंतमंतर्बहिर्मह
परममस्तु न. सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भर सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ।।१४।।

(रोला)

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ।।
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो।।१४।।

जिसप्रकार नमक की डली खारेपन से लबालब भरी हुई है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानरस से लबालब भरा हुआ है। वह ज्ञेयो के आकाररूप मे खण्डित नही होता, इसलिए अखण्डित है, अनाकुल है अविनाशीरूप से अन्तर मे दैदीप्यमान है, सहजरूप से सदा विलसित हो रहा है और चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, ऐसा उत्कृष्ट तेजोमय आत्मा हमे प्राप्त हो ।

उक्त कलश मे ज्ञानानन्द से परिपूर्ण, अनाकुलस्वभावी, अखण्ड, अविनाशी आत्मा हमारी अनुभूति मे सदा प्रकाशित रहे – यह भावना भाई गई है।

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६९

आत्मख्याति के अनुसार जो १५वी व १६वी गाथाए हैं, उनके बीच जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति मे एक गाथा पाई जाती है, जो आत्मख्याति मे नही है । वह गाथा इसप्रकार है –

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आतमा ही दर्शन है और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है और मेरा आत्मा ही सवर तथा योग है।

उक्त गाथा आत्मख्याति मे भी पाई जाती है, पर इस स्थान पर नही, बधाधिकार मे पाई जाती है । आत्मख्याति मे समागत ४१५ गाथाओ मे उसकी क्रम सख्या २७७ है । जिस क्रम मे यह गाथा आत्मख्याति मे पाई जाती है, उसी क्रम मे आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति मे भी पाई जाती है, जिसकी क्रमसख्या वहाँ २९६ है ।

अत यह कहने मे कोई सकोच नही होना चाहिए कि यह पुनरावृत्ति है, क्योंकि यह गाथा एक ही ग्रन्थ मे दो बार आती है । ऐसी गाथाये तो ध्यान मे है कि जो आचार्य कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रन्थो मे हूबहू पाई जाती है, पर एक ही ग्रन्थ मे अनेकबार पाई जानेवाली गाथा अभीतक यह एक ही ध्यान मे आई है ।

यहाँ तात्पर्यवृत्ति मे भी इसके अर्थ मे विशेष कुछ नही कहा गया है, सामान्य-अर्थ ही किया गया है । पिछली गाथा मे कहा गया है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्टादि भावो से सयुक्त भगवान आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है, क्योंकि वह शुद्ध-आत्मा ही सम्पूर्ण जिनशासन का मूल प्रतिपाद्य है, प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु है । उसी शुद्धात्मा की महिमा बताते हुए इस गाथा मे कहा गया है कि वह आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, प्रत्याख्यान है, संवर है, योग है, सबकुछ ।

वह एक शुद्धात्मा ही है । उस शुद्धात्मा की आराधना से, साधना से ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति होती है, प्रत्याख्यान होता है, संवर होता है और योग भी होता है ।

इसके बाद आनेवाली गाथा मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सेवन की प्रेरणा दी गई है और साथ मे यह भी कहा गया है कि निश्चय से इन तीनो को एक आत्मा ही जानो ।

अब आगामी (१६वी) गाथा की उत्थानिकारूप कलश कहते है –

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैक समुपास्यताम् ॥१५॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये॥
बस साध्य-साधकभाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करे ।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव उपदेश दे रहे है, आदेश दे रहे हैं कि आत्मार्थी पुरुषो । आत्मा का कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुषो ।। तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के रसकन्द इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो, आराधना करो, चाहे साध्यभाव से करो, चाहे साधकभाव से करो, पर एक निज भगवान आत्मा की ही उपासना करो । उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकन्द एक भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नही।

यहाँ आत्मा की उपासना करने का तात्पर्य निज आत्मा की पूजा-भक्ति करने से नहीं है, स्तुति-वदना करने मे भी नहीं है नमस्कारादि करने से

भी नही है, अपितु उसे सहीरूप मे जानने से है, पहिचानने से है, उसका अनुभव करने से है, उसी मे समा जाने से है, उसी का नित्य ध्यान करने से है, ध्यान रखने से है, उसको ही सर्वस्व मानने से है, उसी मे पूर्णत समर्पित हो जाने से है । यही निज भगवान आत्मा की उपासना की विधि है, आराधना की विधि है, साधना की विधि है ।

निज भगवान आत्मा की यह उपासना दो प्रकार से होती है –

(१) साध्यभाव से और (२) साधकभाव से ।

चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक साधकदशा है और सिद्ध-अवस्था साध्यदशा है । अथवा चौथे गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक साधकदशा है और अरहत और सिद्धदशा साध्यदशा है । पर्याय मे पूर्णता की प्राप्ति हो जाना साध्यदशा है और आत्मोपलब्धि होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना साधकदशा है । अथवा आत्मा मे उपयोग का केन्द्रित होना और फिर बाहर आ जाना, फिर अन्दर जाना और फिर बाहर आ जाना – इसप्रकार बार-बार अन्दर जाना और बाहर आना साधकदशा है और शुद्धोपयोग मे अनन्तकाल तक के लिए समा जाना साध्यदशा है।

आत्मा की सिद्धदशा अमल भी है और अचल भी है, परन्तु अरहंत-अवस्था अमल तो है, पर अचल नही, क्योकि उसमे योग के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे चचलता पाई जाती है, चलाचलपना पाया जाता है । इस दृष्टि से विचार करे तो अकेली सिद्धदशा ही साध्यभाव है, आत्मज्ञानी की शेष सभी दशाये साधकभाव मे आती हैं ।

पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हो जाने से, अमलता प्राप्त हो जाने से तथा उपयोग के निरन्तर आत्मसन्मुख ही रहने से, निरन्तर शुद्धोपयोगी होने से जब अरहत भगवान को भी साध्यदशा मे लेते हैं तो फिर उसके पहले के धर्मात्मा जीव साधकदशावाले कहे जाते हैं ।

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है । जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव

की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्मसन्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते है । पर एक बात निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने मे ही है, आत्मज्ञान मे ही है, आत्मध्यान मे ही है, अपने मे अपनापन स्थापित करने मे ही है । इन्ही का नाम निश्चय रत्नत्रय है– निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही निज भगवान आत्मा की उपासना है, निज भगवान आत्मा की आराधना है, निज भगवान आत्मा की साधना है, निज भगवान आत्मा की शरण मे जाना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निरन्तर आत्मध्यान की दशा ही साध्यभाव की उपासना है और कभी-कभी आत्मध्यान की दशा होना, साधकभाव की उपासना है । आत्मा के कल्याण के इच्छुक पुरुषो को, चाहे वे साध्यभाव से उपासना करे या साधकभाव से उपासना करे, पर उपासना तो नित्य निज भगवान की ही करना चाहिए ।

यह कलश १६वी गाथा की उत्थानिका का कलश है । अत गाथा मे भी यही विषयवस्तु आनेवाली है ।

इसप्रकार यह प्रतिफलित हुआ कि निश्चय से तो चौथे गुणस्थान से सिद्धभगवान तक सभी उपासक है और उपास्य है प्रत्येक का स्वय का आत्मा, शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा, अबद्धस्पृष्टादिभावो से युक्त त्रिकाली ध्रुव आत्मा, अभेद-अखण्ड, सामान्य, नित्य, एक आत्मा, पर और पर्याय से भिन्न आत्मा, गुणभेद और प्रदेशभेद से भिन्न आत्मा, देहदेवल मे विराजमान पर देह से भिन्न आत्मा ।

प्रश्न – अरहंत-सिद्ध भगवान को उपासक कहना तो अच्छा नही लगता।

उत्तर – इसमे अच्छा नहीं लगने की क्या बात है, बुरा लगने की भी क्या बात है? जब अपने मे अपनापन स्थापित होने का नाम ही आत्म-उपासना है, जब स्वय को जानने का नाम ही आत्म-उपासना है,

जब स्वय मे स्थिर होने का नाम ही आत्म-उपासना है, जब स्वय मे जमने-रमने का नाम ही आत्म-उपासना है तो फिर क्या अरहत-सिद्ध भगवान अपने मे अपनापन नही रखते, अपने को नही जानते, अपने मे ही स्थिर नहीं है, क्या उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नही है? यदि है तो फिर वे आत्मा के उपासक क्यो नही है, उन्हे आत्मोपासक कहने मे क्या परेशानी है?

निश्चय मे भिन्न द्रव्यो के बीच उपास्य-उपासकभाव घटित नही होता। आखिर एकद्रव्य दूसरे की उपासना क्यो करे? उसमे ऐसी क्या कमी है, जो दूसरो के सामने हाथ पसारे?

प्रत्येक आत्मा स्वय मे परिपूर्ण है । कहा भी है—

"हे प्रभु तू सब बातें पूरा, हे प्रभु तू सब बातें पूरा।
पर की आस करे क्यों मूरख, तू कौंई बातें अधूरा।।
रे प्रभु तू सब बातें पूरा।।

निश्चय से प्रत्येक आत्मा का स्वय का द्रव्यस्वभाव स्वय के लिए उपास्य है और स्वय की पर्याय उपासक है । इसप्रकार निश्चय से उपास्य-उपासकभाव एक द्रव्य मे ही घटित होता है । अत अरहंत-सिद्धभगवान का सामान्य, नित्य, अभेद-अखण्ड, एक त्रिकालीध्रुव आत्मस्वभाव उपास्य है और उनके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण की निर्मलपर्याये उपासक है तथा वे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याये उपासना है । इसीलिए यहाँ कहा गया है कि इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा की ही नित्य उपासना करो, और आगामी गाथा मे कहेंगे कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो, क्योकि ये तीनो निश्चय से एक आत्मा ही है ।

इसप्रकार आत्मा की उपासना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन एक ही बात है ।

बिना डींग हाँके दुर्भाग्य से लडने की जितनी क्षमता नारियों में सहज देखी जा सकती है, पुरुषो में उसके दर्शन असम्भव नही, तो दुर्लभ तो है ही । **— आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६१**

समयसार गाथा १६

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६ ।।

(हरिगीत)

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही है आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ।।१६ ।।

साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनो को निश्चय से एक आत्मा ही जानो ।

गाथा मे समागत 'साधु' शब्द का अर्थ पण्डित जयचन्दजी छाबडा एव सहजानन्दजी वर्णी ने साधुपुरुष किया है, जो पूर्णत उचित प्रतीत होता है, क्योकि इस ग्रन्थराज मे मूलत सम्यग्दर्शन प्राप्ति का ही मार्ग बताया गया है । 'साधु' शब्द देखकर यह कहना उचित प्रतीत नही होता कि यह ग्रन्थराज मुनिराजो के लिए ही बनाया गया है और इसे पढने का अधिकार भी उन्ही को है, क्योकि इसमे सर्वत्र ही अज्ञानी को समझाने का प्रयास किया गया है । मुनिराज तो ज्ञानी धर्मात्मा होते है, सम्यग्दृष्टि तो होते ही है, उन्हे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देने, मार्ग बताने की क्या आवश्यकता है ?

यदि इसे पढने का अधिकार गृहस्थो को नही है तो फिर पाण्डे राजमलजी, पण्डित बनारसीदासजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी छाबडा, श्रीमद् रायचन्दजी ब्र शीतलप्रसादजी जैसे विद्वानो ने इसका अध्ययन कैसे किया ? बिना अध्ययन किये इसकी टीकाये लिखना, इसके उद्धरण अपने ग्रन्थो मे देना कैसे सम्भव था ? कहते है कि क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी को तो आत्मख्याति कण्ठस्थ थी और सहजानन्दजी वर्णी ने तो इसकी सप्तदशागी टीका लिखी है । ये भी तो मुनिराज नही थे, क्षुल्लक तो श्रावको मे ही आते हैं, क्योकि ग्यारह प्रतिमाए श्रावको की ही होती है ।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा कहनेवाले गृहस्थ विद्वान स्वय भी इसका अध्ययन करते देखे जाते है । जो विद्वान श्रावको के लिए समयसार के अध्ययन का निषेध करते है, उन्होने स्वय इसका अध्ययन किया है या नही ? यदि किया है तो दूसरो को मना क्यो करते हैं और यदि नही किया है तो फिर बिना देखे ही मना करने को कैसे उचित माना जा सकता है ?

इस ग्रन्थ मे भी अनेक स्थानो पर ऐसे उल्लेख मिलते है कि जिससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थराज अज्ञानियो को समझाने के लिए ही लिखा गया है । आठवी गाथा मे तो एकदम अज्ञानी शिष्य लिया है । इसीप्रकार २६-२७वी गाथा मे एव ३८वी गाथा मे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध की चर्चा की है, नयविभाग से अपरिचित शिष्य लिया है ।

२३ से २५ तक की गाथाओ की उत्थानिका मे आचार्य अमृतचन्द्र तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे लिखते है –

"अथाप्रतिबुद्धवोधनाय व्यवसाय क्रियते – अब अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) को समझाने के लिए व्यवसाय करते है ।"

'साधु शब्द का अर्थ सज्जनपुरुष होता है ।' – इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते है । नीतिसबधी निम्नाकित छन्द तो प्रसिद्ध ही है –

"विद्या विवादाय धन मदाय शक्ति परेषा परिपीडनाय ।
खलस्य साधो विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

दुर्जनो की विद्या विवाद के लिए होती है, धन मद के लिए होता है और शक्ति दूसरो को पीडा पहुँचाने के लिए होती है, जबकि साधुपुरुषो की विद्या ज्ञान के लिए होती है, धन दान के लिए होता है और शक्ति दूसरो की रक्षा के लिए होती है ।"

उक्त छन्द के 'साधु' शब्द का प्रयोग मुनिराज के अर्थ मे नही, अपितु सज्जनपुरुष के अर्थ मे ही हुआ है, क्योंकि मुनिराजो के पास धन कहाँ होता है । 'साधु का धन दान के लिए होता है' – इस वाक्य से ही

स्पष्ट है कि यहाँ साधु शब्द का प्रयोग धनवान सज्जन गृहस्थ के लिए किया गया है ।

इसका तात्पर्य यह भी नही है कि यह ग्रन्थ अज्ञानियो के लिए ही है, मुनिराजो के लिए है ही नही, मुनिराजो के लिए भी इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी है । हम तो मात्र यह कहना चाहते है कि यह ग्रन्थराज अपनी-अपनी योग्यतानुसार ज्ञानी-अज्ञानी, श्रावक-साधु सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है, सभी इसका गहराई से मथन करे, किसी के लिए भी इसके पढने का निषेध न हो ।

यद्यपि मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी मुनिराज ही होते है, तथापि गृहस्थ भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार रत्नत्रय के धारी हो सकते है, होते भी है । रत्नत्रय का आरभ चौथे गुणास्थान मे होता है और पूर्णता सिद्धो मे होती है । यद्यपि यह बात सत्य है, तथापि प्रेरणा तो छठवे गुणस्थान तक ही दी जा सकती है । अत साधुपुरुषो को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए – यह प्रेरणा पहले से छठवे गुणस्थान तक ही दी जाना सभव है ।

जो व्यक्ति अज्ञानदशा मे है, उसे सर्वाधिक प्रेरणा की आवश्यकता है और उसके बाद क्रमश चौथे, पाँचवे एव छठवे गुणस्थानवालो को उत्तरोत्तर कम प्रेरणा की आवश्यकता है । जो मुनिराज घर-बार छोडकर आत्मकल्याण मे ही पूर्णत सलग्न है, उनसे विशेष क्या कहे ? कहना तो उनसे है जो गृहस्थी के जजाल मे उलझे हैं । अत रत्नत्रय धारण करने का उपदेश तो मुख्यत गृहस्थो के लिए ही होता है । हाँ, यह बात अवश्य है कि पात्र सत्पुरुषो को दिया गया उपदेश ही कार्यकारी होता है, दुर्जनो को दिया गया उपदेश न केवल निरर्थक ही जाता है, कभी-कभी विपत्ति का कारण भी बन सकता है । इसीलिए तो कहा गया कि 'सीख न दीजे बानरा, उल्टा देय मिटाय' । अत यहाँ साधुपुरुषो, सज्जनपुरुषो को ही सम्यकदर्शन, ज्ञान और चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है ।

प्रश्न – 'सीख न दीजे बानरा, उल्टा देय मिटाय' – इसका क्या आशय है ?

उत्तर :– इस प्रश्न का उत्तर 'पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव' नामक पुस्तक मे इसप्रकार दिया गया है –

"इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कही दूसरो के सुधार के चक्कर मे हम अपना अहित न कर बैठे । हमारी दशा भी उस चिडिया के समान न हो जावे , जिसने बरसात मे भीगते हुए बन्दर को यह सीख दी थी कि भाई तुम्हारे तो आदमी के समान हाथ-पैर हैं, तुम बरसात, धूप और सर्दी से बचने के लिए घर क्यो नही बनाते ? देखो, हमारे तो हाथ भी नही है, फिर भी हम अपना एक घोसला बनाती हैं और उसमे शान्ति से रहती है, गर्मी, सर्दी और बरसात से बच जाती है।

भैया मेरी मानो तो तुम भी एक घर जरूर बना लो ।

उसका सत्य और सार्थक उपदेश भी चचल प्रकृति बदर को सुहा नही रहा था । अत वह एकदम चिडचिडा कर बोला –

'तू चुप रहती है या फिर '

बेचारी चिडिया सहम गई, पर साहस बटोर कर फिर बोली –

'भैया, मै तो तुम्हारे हित की बात कह रह थी । यदि तुम्हे बुरा लगता है तो कुछ नही कहूगी । मुझे तो तुम पर दया आ रही थी । इसलिए इतना कह गई । बुरा क्यो मानते हो ? जरा सोचो तो सही, इसमे क्या बुरी बात है ? तुम सर्वप्रकार समर्थ हो, बना लो न अपना घर ।'

चिडिया अपनी बात पूरी न कर पाई थी कि बन्दर ने गुस्से मे आकर उसका घोसला छिन्न-भिन्न कर दिया, तोड कर फैंक दिया और बोला

'बडी आई दया दिखाने वाली । अब दिखा दया, अब तो तू भी हमारे समान ही बेघर हो गई । बोल, अब बोल, अब क्या कहना है तुझे ? और भी कोई उपदेश शेष हो तो वह भी दे ले ।'

बेचारी चिडिया चुप रह गई । करती भी क्या ? यदि हम दूसरो को सुधारने के विकल्प मे अधिक उलझे तो हमारी दशा भी चिडिया के समान ही हो सकती है । अत समझदारी इसी मे है कि हम अपने कल्याण की ही सोचे । जो लोग सत्य समझना चाहते हो , विनयवत हो, सरल हृदय हो, उनके अनुरोध पर जो कुछ सत्य जानते हो, अवश्य बताना, समझाना, पर जो लोग सुनना ही न चाहे, समझना ही न चाहे,उन्हे समझाने के विकल्प मे समय व शक्ति व्यर्थ गवाना ठीक नही है ।[१]"

१६वी गाथा की व्याख्या आत्मख्याति मे इसप्रकार की गई है –

"यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है । इसप्रकार स्वय विचार करके दूसरो को व्यवहार से समझाते है कि साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सदा सेवन करने योग्य है, सदा उपासना करने योग्य है, किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो ये तीनो एक आत्मा ही है, आत्मा की ही पर्याये है, अन्य वस्तु नही है ।

जिसप्रकार देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, दर्शन और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लघन न करने से देवदत्त ही है, अन्य वस्तु नही । उसीप्रकार आत्मा मे भी घटित करना चाहिए कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लघन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नही।

इसलिए यह स्वत ही सिद्ध हो गया कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है, सेवन करने योग्य है ।"

जैसाकि उत्थानिका के कलश मे कहा था कि 'एष ज्ञानघनो आत्मा नित्य समुपास्यताम्' – इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा की ही नित्य उपासना करो, ठीक उसीप्रकार टीका के अन्त मे भी यही निष्कर्ष निकाला है कि 'तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते – एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है' – यह स्वत ही सिद्ध हो गया ।

---

१ पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५१

साध्यभाव और साधकभाव की उपासना की चर्चा कलश की व्याख्या करते समय विस्तार से की ही जा चुकी है, अत उस सन्दर्भ मे कुछ भी लिखने की आवश्यकता नही है ।

प्रश्न — टीका मे निश्चय-व्यवहार की संधि स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वय अन्तर मे तो यह निश्चय करे कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, परन्तु दूसरो को समझाते समय व्यवहार से ऐसा समझावे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए, क्योकि ये तीनो एक आत्मा ही है, आत्मा की ही पर्याये है, अन्य वस्तु नही ।

उक्त कथन मे प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा ही है, तो फिर स्वय के समझने मे और दूसरो को समझाने मे यह अन्तर क्यो हो ? क्या यह ऐसी बात नही हुई कि हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और ?

उत्तर — नही, भाई। ऐसी बात नही है । जबतक भेद करके न समझाया जाय, तबतक अबोधशिष्य की समझ मे बात आती नहीं है । यद्यपि इस बात को आठवी गाथा मे विस्तार से स्पष्ट कर दिया गया है, तथापि यहाँ भी सक्षेप मे प्रकाश डालते है ।

जब ज्ञानगुण आत्मसन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, तब आत्मा को जाननेरूप ज्ञान का जो निर्मल परिणमन होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते है, उसीसमय आत्मसन्मुखता की दशा मे ही श्रद्धागुण पर मे से एकत्व-ममत्व तोडकर शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा मे जो अपनापन स्थापित करता है, श्रद्धागुण का वह आत्माश्रित निर्मल परिणमन सम्यग्दर्शन कहलाता है, उसीसमय जो आत्मा मे ही उपयोग केन्द्रित होता है, आत्मा ही ध्यान का ध्येय बनता है और चारित्रगुण मे अनन्तानुबधी कषाय के अभावरूप निर्मलता प्रगट होती है, वह सम्यक्चारित्र का अश है ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यह प्रकटता ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना कही जाती है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहा जाता है और यही आत्मा

की उपासना है, आत्मा का सेवन है । यदि अज्ञानी को यही कहते रहे कि आत्मा का सेवन करो, आत्मा की उपासना करो, तो उसकी समझ मे कुछ भी न आये, अत उसे व्यवहार से समझाते है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करो, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो । समझाने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना ही पडता है । अत यह ठीक ही कहा गया है – स्वय तो यह निश्चय करे कि शुद्धनय का विषयभूत एक भगवान आत्मा ही उपास्य है, पर शिष्यो को व्यवहार से यह समझावे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो ।

"अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार" अथवा "एक सो निश्चय और अनेक सो व्यवहार" – निश्चय-व्यवहार की उक्त परिभाषाओ के अनुसार यहाँ अभेद एक आत्मा के सेवन को निश्चय और उसके भेदरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन को व्यवहार कहा गया है ।

ध्यान रहे, अभेद को एक और अमेचक भी कहा जाता है और भेद को अनेक और मेचक भी कहा जाता है । इसप्रकार अभेद, अमेचक, एकाकार आत्मा की आराधना निश्चय आराधना है और भेद, मेचक और अनेकाकार आत्मा की आराधना व्यवहार आराधना है ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीन है, अत अनेक है, अनेकाकार है, मेचक है, भेद हैं,अत इनकी उपासना को व्यवहारोपासना कहा जाता है । शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा एक है, एकाकार है, अभेद है, अमेचक है, अत उसकी उपासना को निश्चयोपासना कहा गया है ।

यहाँ अनेकाकार होना, मेचक होना ही अशुद्धि है, मलिनता है और एकाकार होना, अमेचक होना ही शुद्धि है, निर्मलता है । अत एक आत्मा की उपासना शुद्धनय है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना अशुद्धनय है। यहाँ इससे अधिक अशुद्धि और कुछ नही है ।

प्रश्न '– जब आत्मा की आराधना और दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना एक ही बात है तो फिर दोनों में से एक को शुद्ध कहना और दूसरे को अशुद्ध कहना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर — अरे भाई, इसमे कुछ भी अनुचित नही है, क्योकि यहाँ अभेद को शुद्धि और भेद को अशुद्धि कहना ही अभीष्ट है ।

प्रश्न :— ऐसा क्यो है ?

उत्तर — इसलिए कि भेद के लक्ष्य से विकल्पो की उत्पत्ति होती है और अभेद के लक्ष्य से विकल्पो का शमन होकर निर्विकल्प दशा उत्पन्न होती है । आत्मा का अनुभव निर्विकल्प दशा मे ही होता है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी निर्विकल्प दशा मे ही होती है । हाँ, इनकी सत्ता विकल्पात्मक दशा मे भी रह सकती है, पर उत्पत्ति विकल्पात्मक दशा मे नही हो सकती है ।

देखे उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी क्या कहते है —

"अभेदकथन से व्यवहारीजन समझ नही सकते, इससे उन्हे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करके व्यवहार से समझाया है कि साधुपुरुष दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करे । भगवान आत्मा निश्चय है तो उसकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्र — इसप्रकार तीन का सेवन करना व्यवहार है, मेचकपन है, मलिनपन है, अनेकपन है। दर्शनस्वभाव, ज्ञानस्वभाव, चारित्र-स्वभाव—इत्यादि अनेक स्वभाव हो जाते है, इस कारण यह व्यवहार है।[१]

ज्ञायकस्वभाव एकरूप है, उस एक का सेवन करने से पर्याये तीन हो जाती है, अनेकस्वभाव स्वरूप हो जाती है । दर्शन, ज्ञान, चारित्र — तीनो का भिन्न-भिन्न स्वभाव है । दर्शन का प्रतीतिरूप स्वभाव, ज्ञान का जाननेरूप स्वभाव और चारित्र का शान्ति व वीतरागतारूप स्वभाव है । एकरूप ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की सेवा करने से अनेकरूप स्वभावपर्याये उत्पन्न होती है । इस अनेकरूप स्वभाव पर्यायो की सेवा करो — यह तो व्यवहार से उपदेश दिया है । इससे सिद्ध तो यही होता है कि दृष्टि मे सेवन करने योग्य तो एक आत्मा ही है ।[२]"

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ २७६

२ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ २८०

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव चार कलशो के माध्यम से यह स्पष्ट करते है कि प्रमाण और नयो से आत्मा की उक्त सन्दर्भ मे क्या स्थिति है और हमे क्या करना चाहिए ?

उक्त चारो कलश इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ)

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत ॥१६॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभि. परिणतत्त्वत ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक ॥१७॥

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक ॥१८॥

आत्मनश्चिन्तयैवाल मेचकामेचकत्वयो ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रै साध्यसिद्धि र्न चान्यथा ॥१९॥

(हरिगीत)

मेचक कहा है आतमा दृगज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमातमा है अमेचक बस स्वयं से॥
परमाण से मेचक अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥१६॥

आत्मा है एक यद्यपि किन्तु नय व्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञान दर्शन चरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
अर इसे जाने बिन जगतजन न लगे सन्मार्ग में ॥१७॥

आत्मा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
है शुद्ध एकाकार परसे भिन्न है परमार्थ से ॥१८॥

मेचक-अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
बस करो अब इन विकल्पों से तुम्हें इन से साध्य क्या॥
हो साध्यसिद्धि एक बस सद् ज्ञान दर्शन चरण से ।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचें संसरण से ॥१९॥

यदि प्रमाण दृष्टि से देखे तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप मेचक भी है और एक अवस्थारूप अमेचक भी है, क्योकि इस आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तीनपना—अनेकपना प्राप्त है और यह स्वय से एक है ।

यद्यपि यह आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो त्रिस्वभावरूपता के कारण अनेक है, अनेकाकार है, मेचक है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावोरूप परिणमन करता है ।

यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा अनेकरूप कहा गया है, तथापि परमार्थ से विचार करे तो – शुद्धनिश्चयनय से देखे तो प्रगटज्ञायक-ज्योतिमात्र से आत्मा एक ही है, एकस्वरूप ही है, क्योकि सर्व अन्यद्रव्यो के स्वभाव तथा उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभाव भावो को दूर करने का उसका स्वभाव है । इसलिए वह परमार्थ से शुद्ध है, एकाकार है, अमेचक है ।

यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है, मलिन है, अथवा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है, शुद्ध है, निर्मल है, – ऐसी चिन्ता से बस हो, इसप्रकार के अधिक विकल्पो से कोई लाभ नही है, क्योकि साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन भावो से ही होती है, अन्यप्रकार से नही । – यह नियम है ।

उक्त कलशो मे एकाकार-अनेकाकार, अमेचक-मेचक, निर्मल-मलिन, अभेद-भेद के सन्दर्भ मे निश्चय, व्यवहार और प्रमाण का पक्ष प्रस्तुत करने के उपरान्त यह बताया गया है कि यह सब जान लेने के बाद इन्ही विकल्पो मे उलझे रहने से कोई लाभ नही है, क्योकि साध्य की सिद्धि – अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति इन विकल्पो से प्राप्त होनेवाली नही है । साध्य की सिद्धि

तो निश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है, अथवा इसी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही होनेवाली है ।

उक्त भाव को नाटक समयसार मे कविवर पण्डित बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते है –

(कवित्त तेईसा)

"दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम समलरूप कहिये विवहार ।
निहचै-दृष्टि एकरस चेतन भेदरहित अविचल अविकार ॥
सम्यकदसा प्रमान उभैनय निर्मल समल एक ही बार ।
यौ समकाल जीव की परिणति कहै जिनेन्द्र गहै गनधार ॥

(दोहा)

एकरूप आतम दरब ग्यान चरन दृग तीन ।
भेदभाव परिनाम सौं विवहारै सु मलीन ॥
जदपि समल विवहार सौं पर्ययसकति अनेक ।
तदपि नियतनय देखिये सुद्धनिरंजन एक ॥
एक देखिए जानिये रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धि नहि और॥[१]"

देखो, गभीरता से विचारने की बात यह है कि यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा है, अनेकाकार होने से मेचक कहा जा रहा है । जहाँ शुद्धनय के विषय मे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा हो, वहाँ रागादिक मलिनता की तो बात ही क्या करे ?

इस विषय को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते है –

"यहाँ पर शरीर-मन-वाणी और विकल्पो की तो बात ही नहीं है । यहाँ तो उस शुद्धता की बात है, जिसे छठवी गाथा मे प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायो

१ नाटक समयसार जीवद्वार छन्द १६ से १९

रहित एक ज्ञायकभावरूप कहा है। उस शुद्ध चैतन्यघन आत्मा को देखना निश्चय, उसे ही तीनरूप परिणमित होते हुए जानना व्यवहार और दोनो को एक साथ जानना प्रमाण है ।[१]

आत्मा मे रहनेवाले अनतगुण, उन अनतगुणस्वरूप भगवान आत्मा एकरूप है और उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन परिणाम से देखना व्यवहार है । त्रिकाली एकरूप देखे तो निश्चय व तीनरूप देखे तो व्यवहार है । अभेद से देखे तो अमेचक – निर्मल है और भेद से देखे तो मेचक – मलिन है । एकरूप देखे तो एकाकार है और तीनरूप देखे तो अनेकाकार है। आत्मा को गुण-गुणी भेद से देखे तो अनेकाकार है, व्यवहार है, मलिन है, आश्रय करने लायक नही है । तीन प्रकार के दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम भी आश्रय करने लायक नही है ।[२]

आत्मा को जो अमेचक कहा है, वह निर्मलपना, एकपना, शुद्धपना आदि की अपेक्षा कहा है । यहाँ विकल्प रहित निर्मलता की बात की है और पर्याय मे जो निश्चय मोक्षमार्ग का तीनपने परिणमन – उनमे एक प्रतीतिरूपभाव, एक जाननेरूपभाव तथा स्थिरतारूपभाव – ऐसे तीन स्वभाव भिन्न कहे है । तीन है, अनेकाकार है – इसकारण अशुद्ध कहे गये है। तीनपने का लक्ष्य करना अशुद्धता है और त्रिकाली एकाकार का लक्ष्य करना शुद्धता है ।[३]

साध्य यानि मोक्षपर्याय की प्राप्ति तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है । तीन भेद करके तो समझाया गया है, आश्रय तो एक आत्मा का ही करना है । यह तो व्यवहारी लोगो को पर्याय के भेद से समझाया है, क्योंकि जगतजन भेद के बिना समझ नही सकते । सेवा तीन की नही, बल्कि सेवा तो अखण्ड एकरूप ज्ञायक की ही करनी है । 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र

---

१ प्रवचनरत्नाकर भाग १ (हिन्दी) पृष्ठ २८२
२ वही २८३
३ वही २८९

से ही सिद्धि है' – ऐसा कहकर अन्य द्रव्य का निषेध किया है । स्वद्रव्य का ही सहारा है, अन्यद्रव्य का सहारा नही है । परद्रव्यरूप देव-शास्त्र-गुरु या उनकी भक्ति के विकल्प का भी मोक्षमार्ग मे सहारा नही है – यह बात भी आ गई।[1]"

उक्त कथन से सम्पूर्ण वस्तु स्थिति स्पष्ट हो गई है कि साध्य की सिद्धि तो एकमात्र शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप परिणमन से ही होनेवाली है, अन्य देहादिक की क्रिया अथवा शुभरागरूप परिणमन से साध्य की सिद्धि तीन काल मे भी होनेवाली नही है । अत जिन लोगो को आत्मा का कल्याण करना हो, अपने को भवसमुद्र मे नही डुबाना हो, अतीन्द्रिय-आनन्द की प्राप्ति करनी हो, सर्वज्ञता प्राप्त करनी हो, वे अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को जाने, पहिचाने और उसी मे जम जाय, रम जाय, क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

यहाँ कलशटीका की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सर्वत्र दर्शन का अर्थ श्रद्धान, प्रतीति, अपनापन, एकत्व, ममत्व किया जाता है और ज्ञान का अर्थ जानना तथा चारित्र का अर्थ रमना, जमना, वीतरागतारूप परिणमन करना, शान्त रहना किया जाता है, वहाँ कलशटीका के इस प्रकरण मे निम्नानुसार अर्थ किया है –

"सामान्यरूप से अर्थग्राहक शक्ति का नाम दर्शन है, विशेषरूप से अर्थग्राहक शक्ति का नाम ज्ञान है और शुद्धत्वशक्ति का नाम चारित्र है ।"

उक्त कथन मे 'दर्शन' को दर्शनगुण की पर्याय के रूप मे ग्रहण किया गया है, जबकि अन्य सब जगह श्रद्धागुण की पर्याय के रूप मे ग्रहण किया जाता है ।

शरीर का घाव तो समय पाकर भर जाता है, पर मन के घाव का भरना सहज नही होता । — ***आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ५८***

---

१ प्रवचनरत्नाकर भाग १ (हिन्दी) पृष्ठ २९०-२९१

समयसार गाथा १७-१८

अब आगामी १७-१८वी गाथाओ में उसी बात को उदाहरण से समझाकर स्पष्ट करते हैं, जिसकी चर्चा १६वी गाथा मे की गई है ।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊणं सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

(हरिगीत)

'यह नृपति है' – यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ॥१७॥
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिये ।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहचानिये ॥१८॥

जिसप्रकार कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, उसकी लगन से सेवा करता है, ठीक उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुषो को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए, उसके बाद उसी का अनुचरण करना चाहिए, अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमे तन्मय हो जाना चाहिए ।

यद्यपि गाथाओ का अर्थ एकदम सहज और सरल है, तथापि पंडित जयचन्दजी छाबडा ने अपने भावार्थ मे और भी सरल कर दिया है, जो इसप्रकार है –

"साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्यप्रकार से नही, क्योकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव मे आता है, सो मैं ही हूँ । इसके बाद उसका प्रतीतिरूप श्रद्धान होता

है, क्योकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावो से भेद करके अपने मे स्थिर हो – इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं तो श्रद्धान भी नही हो सकता और ऐसी स्थिति मे स्थिरता कहाँ से करेगा ? इसलिए यह निश्चय है कि अन्यप्रकार से सिद्धि नही होती ।"

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका लिखते समय इस बात पर विशेष बल देते हैं कि जिसप्रकार धनार्थी छत्रचामरादि राज्यचिन्हो से राजा को जानकर श्रद्धा करता है और सेवा करता है, उसीप्रकार जीवराजा को स्वसवेदनज्ञान से जानना चाहिए और निर्विकल्पसमाधि द्वारा उसका अनुभव करना चाहिए, शुभाशुभ विकल्प मात्र से कुछ होनेवाला नही है । तात्पर्य यह है कि वे आत्मानुभूति पर विशेष बल देते है ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति मे इन गाथाओ के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार धनार्थीपुरुष पहले तो राजा को प्रयत्नपूर्वक जानता है, फिर उसका श्रद्धान करता है और फिर उसी का अनुचरण करता है, सेवा करता है, उसकी आज्ञा मे रहता है, उसे हरतरह से प्रसन्न रखता है, उसीप्रकार मोक्षार्थीपुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए, और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिये, अनुभव के द्वारा उसी मे लीन हो जाना चाहिए, क्योकि साध्य की सिद्धि की उपपत्ति इसीप्रकार सभव है, अन्यप्रकार से नही ।

अब इस बात को विशेष स्पष्ट करते है -- जब आत्मा को, अनुभव मे आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावो के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्वप्रकार से भेदविज्ञान मे प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है, सो ही मै हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है – इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्यभावो को भेद होने से निशक स्थिर होने मे समर्थ होने

से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है । ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इसप्रकार उपपत्ति है ।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वय ही आने पर भी अनादिबध के वश परद्रव्यो के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ – अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही मे हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सीग के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नही होता, समस्त अन्यभावो के भेद से आत्मा मे निशक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को साध नहीं सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है ।"

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन का पहला पैरा तो एकदम गाथा के अनुसार ही है, किन्तु दूसरे और तीसरे पैरे मे वे साध्य की सिद्धि की उपपत्ति व अनुपपत्ति किसप्रकार होती है, – यह बात स्पष्ट करते हैं, जो गभीरता से विचार करने योग्य है, गहराई से समझने योग्य है ।

यह भगवान आत्मा स्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक है, सभी पदार्थों को जानना इसका सहज स्वभाव है । अत सदाकाल ही इसके स्वपरप्रकाशक ज्ञान का उदय रहता है और इसके ज्ञान मे अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार स्वपरपदार्थ प्रतिभासित होते रहते हैं । अपनी आत्मा मे उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव भी ज्ञात होते रहते हैं और जानने-देखनेवाला अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी ज्ञात होता रहता है ।

यद्यपि ये सभी भाव मिश्रितरूप से ही ज्ञात होते हैं, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी पर्यायरूप अनेक भेदभावो के साथ मिश्रित ही दिखाई देता है, तथापि जब कोई आत्मा भेदज्ञान की प्रवीणता से इन सबमें 'जो यह अनुभूति है, वहीं मै हूँ' – यह जान लेता है और उसे यह प्रतीति भी आ जाती है, श्रद्धान भी हो जाता है; तब भगवान आत्मा को अन्यभावों से भिन्न जान लिए जाने से, उसमें निशंक स्थिर हो जानेरूप आचरण का उदय होता है। इसप्रकार यह आत्मा अपने को साधता है, अपनी साधना करता है ।

आत्मा की साधना की यही विधि है और साध्य की सिद्धि की उपपत्ति भी इसीप्रकार होती है ।

तात्पर्य यह है कि परपदार्थों के साथ-साथ अपना आत्मा भी अपनी विकारी-अविकारी पर्यायो सहित प्रतिसमय हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनता रहता है, जैसाकि टीका मे स्पष्टरूप से उल्लेख है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव मे सदा स्वय आ रहा है ।

प्रश्न :– यदि यह बात सत्य है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा ही आबाल-गोपाल के अनुभव मे आ रहा है तो फिर सभी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी होना चाहिए, क्योंकि आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी होते ही है और उनके अनन्तानुबधी कषाय के अभाव मे होनेवाली चारित्र गुण की निर्मलता भी रहती ही है ।

उत्तर – इसी प्रश्न का उत्तर टीका के तीसरे पैरे मे दिया गया है। यद्यपि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सभी के अनुभव मे सदा आ रहा है, तथापि परपदार्थों मे अनादिकालीन एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानीजनो को 'जो यह अनुभूति है, वही मै हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नही होता। इस आत्मज्ञान के अभाव मे 'अज्ञात का श्रद्धान गधे के सीग के समान है' – इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मश्रद्धान भी उदित नहीं होता और इसीकारण आत्माचरण भी नही होता है । इसप्रकार उन्हें आत्मोपलब्धि नही हो पाती है ।

ध्यान रहे यहाँ 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग निर्मलपर्याय के अर्थ मे न होकर त्रिकाली-ध्रुव के अर्थ मे हुआ है । अनुभूतिस्वरूप आत्मा माने त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा । यद्यपि अन्य पदार्थो एव अपने विकारी-अविकारी भावो के साथ यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी सभी ज्ञानी-अज्ञानीजनो को सदा अनुभव मे आता रहता है, तथापि भेदज्ञान के अभाव मे अज्ञानीजन उसे पहिचान नही पाते, जान नहीं पाते, इसकारण उसमे जम भी नही पाते, रम भी नहीं पाते, किन्तु ज्ञानीजन भेदज्ञान के

बल से उसे परपदार्थों एवं अपने विकारी-अविकारी भावो से भिन्न जानकर, भिन्न मानकर, अपनी-अपनी योग्यतानुसार उसी में जम जाते हैं, रम जाते हैं ।

इसप्रकार अज्ञानियो को आत्मा अनुपलब्ध रहता है और भेदज्ञानियों को सदा उपलब्ध रहता है । यही आत्मा की उपलब्धि और अनुपलब्धि का रहस्य है ।

प्रश्न .— यहाँ आबाल-गोपाल शब्द का क्या भाव है ?

उत्तर ·— 'अज्ञानी-ज्ञानी सभी लोग' — यही अर्थ है आबाल-गोपाल का । बाल माने बालक और गोपाल माने भगवान । इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ बालक से भगवान तक सभी लोग । बाल माने अबोध बालक और गोपाल माने समझदार वृद्ध । इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ अबोध बालक से लेकर समझदार वृद्धो तक सभी लोग । बाल माने बालक और गोपाल माने ग्वाले । दुनिया मे बालक और ग्वाला — दोनो को ही अल्पबुद्धि माना जाता है ।

इसप्रकार पूरे वाक्य का भाव यह है यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अबोध बालक और समझदार वृद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी सामान्यजन और भगवान सभी के अनुभव मे सदा आ रहा है ।

प्रश्न .— 'अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सबके अनुभव मे सदा आ रहा है' — इस बात को स्वीकार कैसे किया जाये ?

उत्तर — इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दि परीक्षामुख सूत्र मे लिखते हैं —

"घटमहमात्मना वेद्मि । कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।[1]

मैं (आत्मा) घडे को स्वय (ज्ञान) से जानता हूँ । घडेरूप कर्म के समान कर्ता आत्मा, करण ज्ञान एव जानना क्रिया भी जानने मे आती है ।"

---

१ परीक्षामुख अध्याय १, सूत्र ८९

उक्त सूत्रों मे यह बात स्पष्ट की गई है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ को जानता है तो वह उस समय अकेले उस पदार्थ को ही नहीं जानता, अपितु यह भी जानता है कि मै जान रहा हूँ, अपने ज्ञान से जान रहा हूँ और मात्र जान रहा हूँ, इसे बना नही रहा हूँ । इसतरह ज्ञेयरूप कर्म के साथ ज्ञातारूप कर्ता, ज्ञानरूप करण एव जाननेरूप क्रिया भी जानने मे आती है । जानने की प्रक्रिया का ही यह स्वरूप है, अत जहाँ जानने का कार्य होगा, वहाँ ज्ञेय के साथ ज्ञाता, ज्ञान और जानना क्रिया भी जानने मे अवश्य आवेगी ।

हाँ, यह बात अवश्य है कि ज्ञेय ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, ज्ञाता ज्ञातारूप से ज्ञात होता है, ज्ञान ज्ञानरूप से ज्ञात होता है और जानना जाननेरूप से ज्ञात होता है । इसलिए छठवीं गाथा मे कहा था कि अनुभव मे आत्मा ज्ञायकरूप मे ज्ञात हुआ । ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के अभेद का भी यही आशय है कि अनुभव मे ज्ञाता भी आत्मा, ज्ञेय भी आत्मा, ज्ञान भी आत्मा, जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है ।

यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि ज्ञान मे तो आत्मा भी ज्ञात हो रहा है, आत्मा मे उत्पन्न होने वाले विकारी-अविकारी भाव भी ज्ञात हो रहे है, पुण्य-पाप भी ज्ञात हो रहे हैं और परपदार्थ भी ज्ञात हो रहे हैं। इन सब मे जब अपनेरूप मे अकेला अनुभूतिस्वरूप आत्मा ही दिखाई देता है, तब साध्य की सिद्धि होती है और उसके अतिरिक्त कोई भी अपनेरूप मे ज्ञात हो तो साध्य की सिद्धि की अनुपपत्ति होती है। समस्या पर को जानने या नहीं जानने की नही है, विकारी-अविकारी भावो को जानने या नही जानने की भी नहीं है, अपितु उन्हें निजरूप जानने की है, क्योकि उनमे एकत्व-ममत्व से मिथ्यात्व होता है, मात्र जानने से नही, क्योंकि निज को निजरूप और पर को पररूप जानने मे कोई हानि नही, लाभ ही लाभ है ।

यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान आकर्षित किया जा रहा है कि बात तो मात्र इतनी-सी ही है कि तेरी आत्मा की सिद्धि मात्र इसलिए रुकी हुई

है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा निरन्तर जानने मे आते हुए भी तू उसे निज नही जानता, उसमे अपनापन स्थापित नही करता और उसीकाल मे जानने मे आते हुए रागादि मे अपनापन करता है, परपदार्थो में अपनापन करता है । तेरी इतनी-सी भूल के कारण तू ससार मे भटक रहा है । तू अपनी यह भूल सुधार ले तो कल्याण होने मे देर नही ।

उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी कहते हैं –

"ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक – यह जो जाननक्रिया द्वारा जाना जाता है, वह मै हूँ – ऐसे अन्तर मे नही जाकर जानने मे आते हुए राग के वश होकर 'वह राग ही मै हूँ' – इसप्रकार अज्ञानी मानता है, इसकारण आत्मज्ञान उदित नही होता । दर्शनमोह के कारण आत्मज्ञान उदित नही होता – ऐसा नही कहा । कोई माने कि कर्म से होता है – यह बात झूठी है। तीनकाल मे भी कर्म से आत्मा का कुछ भी सुधार-बिगाड नही होता । कर्म तो परद्रव्य है । परद्रव्य से स्वद्रव्य मे कुछ होता है – यह बात सर्वथा मिथ्या है ।[१]"

अरे भाई, राई की ओट में पहाड छिप गया है । आँख की पुतली के सामने से राई हटी नहीं कि पूरा पहाड दिखाई देने लगेगा, क्योंकि पहाड तो एकदम सामने ही पडा है न? अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा अन्तर में ही विराजमान है, निरन्तर अनुभव में भी आ रहा है, बस कमी तो इतनी ही है कि ऐसा आत्मज्ञान उदित नही हो रहा है कि यह जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हो रहा है, वही मै हूँ । ऐसा ज्ञान उदित होते ही, सहज ही उसी मे अपनापन स्थापित हो जावेगा और तदनुरूप आचरण भी उदित हो जायेगा । साध्य की सिद्धि का यही एकमात्र उपाय है ।

अब आचार्यदेव कलशरूप काव्य लिखते हैं । ये सत्तरह-अठारहवीं गाथाएँ भी ऐसी गाथाएँ हैं कि जिनकी टीका के बीच मे ही आचार्य अमृतचन्द ने कलशरूप काव्य लिखा है, जो इसप्रकार है –

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३०३

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिन्ह
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

(हरिगीत)

त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ।
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ॥२०॥

यद्यपि जिसने किसी भी प्रकार से तीनपने को अगीकार किया है, तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई है, निर्मलता से उदय को प्राप्त है और अनन्तचैतन्य है चिन्ह जिसका, ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव के बिना साध्य की सिद्धि नही होती । – ऐसा आचार्य देव कह रहे है ।

देखो, पिछले कलशो मे कहा था दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना साध्यसिद्धि नही होती और यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मानुभव के बिना साध्यसिद्धि नही होती । भाई, एक ही बात है, भेद से कहे तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बिना साध्यसिद्धि नही होती– ऐसा कहा जायेगा और अभेद से कहें तो एक आत्मा के अनुभव बिना साध्यसिद्धि नही होती – ऐसा कहा जायेगा। इन दोनो कथनो मे कोई विशेष अन्तर नही है, मात्र विविक्षाभेद है, क्योकि वही आत्मज्योति तीनपने को प्राप्त हुई है और उसी ने एकत्व को नही छोडा है। है तो वह आत्मज्योति ही, आत्मा ही ।

तात्पर्य यह है कि सुखी होने का एकमात्र उपाय आत्मसाधना ही है।

यहाँ आचार्यदेव ने उत्तमपुरुष मे बात की है कि ऐसे भगवान आत्मा का हम निरन्तर अनुभव करते हैं, क्योकि साध्य की सिद्धि का कोई दूसरा

उपाय नहीं है । उत्तमपुरुष मे बात करके भी आचार्यदेव प्रेरणा दे रहे हैं कि जो व्यक्ति साध्य की सिद्धि चाहते है, दु खों से मुक्ति चाहते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं, वे निजभगवान आत्मा का निरन्तर अनुभव करें ।

जब कोई सुयोग्य पिता अपने पुत्र से बार-बार कहता है कि जब मैं तुम्हारी उम्र का था, तब प्रात ५ बजे उठता था और ५ किलोमीटर घूमने जाया करता था, तब उसका आशय अपनी दिनचर्या बताना नहीं होता है, अपनी प्रसशा करना भी नहीं होता है, अपितु पुत्र को प्रेरणा देना होता है कि यह उम्र प्रात ९ बजे तक सोते रहने की नहीं है।

इसीप्रकार यहाँ आचार्यदेव हमे प्रेरणा दे रहे हैं कि यदि तुम सुख-शान्ति चाहते हो तो अपने आत्मा को जानो, पहिचानो, उसमे ही जम जावो, रम जावो, सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है । यह मानव जीवन यो ही विषयो मे बर्बाद कर देने के लिए नही मिला है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मानुभव की पावन प्रेरणा से परिपूर्ण यह कलश लिखने के बाद जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है –

"प्रश्न .– आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, अत वह ज्ञान की उपासना निरन्तर करता ही है । फिर भी उसे ज्ञान की उपासना करने की प्रेरणा क्यो दी जाती है ?

उत्तर – ऐसी बात नही है । यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नहीं करता, क्योकि ज्ञान की उत्पत्ति या तो स्वयबुद्धत्व से होती है या फिर बोधितबुद्धत्व से होती है । तात्पर्य यह है कि या तो काललब्धि आने पर स्वय ही जान ले या फिर कोई उपदेश देनेवाला मिल जावे, तब जाने।

प्रश्न '– तो क्या आत्मा तबतक अज्ञानी ही रहता है, जबतक कि वह या तो स्वय नहीं जान लेता या फिर किसी द्वारा समझाने पर नहीं जान लेता ?

उत्तर .— हाँ, बात तो ऐसी ही है, क्योंकि उसे अनादि से सदा अप्रतिबुद्धत्व ही रहा है, अज्ञानदशा ही रही है ।"

उक्त कथन मे उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज नामक जो दो भेद हैं, उनकी ओर संकेत किया गया है । जिसप्रकार सोया हुआ पुरुष या तो स्वय जाग जाय या फिर कोई जगाये, तब जागे । इसीप्रकार यह आत्मा या तो स्वय जागृत हो और अपने आत्मा को जान ले या फिर कोई गुरु उपदेश देकर जागृत करे, आत्मा का स्वरूप समझावे, आत्मानुभव करने की प्रेरणा करे, तब जागृत हो और पुरुषार्थ करके आत्मा को जान ले, अनुभूति प्राप्त कर ले ।

प्रश्न — तो क्या ऐसा होता है कि कोई तो स्वय जान ले और कोई गुरुदेव के समझाने पर जाने ?

उत्तर — यह कथन मुख्यता और गौणता की दृष्टि से किया गया कथन है । वैसे तो नियम ऐसा ही है कि देशनालब्धिपूर्वक ही करणलब्धि होती है और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति करणलब्धिपूर्वक ही होती । अत उपदेश भी आवश्यक है और स्वय का पुरुषार्थ भी आवश्यक है, फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी जीव को देशनालब्धि पूर्वभव मे या बहुत पहले प्राप्त हुई हो और उस समय उसने पुरुषार्थ न कर पाया हो, इसकारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी उसे न हो पाई हो, बाद मे बहुतकाल बाद या अगले भव मे वह पुरुषार्थ करे और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ले तो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहेगे । तत्काल देशना का अभाव होने से उसे निसर्गज कहते हैं, पहले तो देशना की प्राप्ति हुई ही थी । देशना मिले और अल्पसमय मे ही, उसी भव मे ही पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अनादि से तो जीव अज्ञानी ही है, मिथ्यादृष्टि ही है, अत जबतक उसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं की, तबतक अज्ञानी ही रहता है, ज्ञान के साथ तादात्म्य होने से वह ज्ञानी नही हो जाता ।

देखो उक्त सन्दर्भ मे स्वामीजी क्या कहते हैं –

"कैसी गजब की बात है कि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से है, तथापि एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नही करता अर्थात् 'ज्ञान ही आत्मा है' – पर्याय मे ऐसी एकता नही करता, इसकारण ज्ञान का सेवन नही करता ।[1]

पर्याय को अन्तर्मुखी करके 'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसा उसके स्वरूप मे एकाग्र होकर उसे जाने तो इसने ज्ञान की सेवा की – ऐसा माना जाता है । इसके सिवा सब राग की ही सेवा है, आत्मा की सेवा नहीं ।[2]"

अत यह सुनिश्चित है कि ज्ञान के साथ तादात्म्य सबध होने पर भी जबतक यह आत्मा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा को जानकर, उसमे अपनत्व स्थापित नही करता, तबतक अज्ञानी ही रहता है । •

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३१३
२ वही पृष्ठ ३१४

अन्धश्रद्धा

अन्धश्रद्धा तर्क स्वीकार नहीं करती । यही कारण है कि अंधश्रद्धालु को सही बात समझा पाना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। यदि वह तर्कसंगत बात को स्वीकार करने लगे तो फिर अन्धश्रद्धालु ही क्यों रहे ? अन्धश्रद्धालु को हर तर्क कुतर्क दिखाई देता है । इष्ट की आशा और अनिष्ट की आशंका उसे सदा भयाक्रान्त रखती है । भयाक्रान्त व्यक्ति की विचारशक्ति क्षीण हो जाती है । उसकी इसी कमजोरी का लाभ कुछ धूर्त लोग सदा से ही उठाते आये हैं और उठाते रहेंगे ।

– सत्य की खोज, अध्याय ७, पृष्ठ ४१

समयसार गाथा १९

यदि ऐसा है तो यह आत्मा कबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा, ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उसके उत्तरस्वरूप आगामी गाथा का उदय हुआ है ।

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहक च कम्म णोकम्म ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

(हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या है हमारे ये सभी ।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि है तबतक सभी ॥१९॥

जबतक यह आत्मा ज्ञानावरणी आदि द्रव्यकर्मो, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मो एव शरीरादि नोकर्मो मे अहबुद्धि रखता है, ममत्वबुद्धि रखता है, यह मानता रहता है कि 'ये सभी मै हूँ और मुझमे ये सभी कर्म-नोकर्म हैं' — जबतक अप्रतिबुद्ध रहता है, अज्ञानी रहता है । तात्पर्य यह है कि कर्म-नोकर्म मे अहबुद्धि एव ममत्वबुद्धि ही अज्ञान है ।

अहबुद्धि को एकत्वबुद्धि एव ममत्वबुद्धि को स्वामित्वबुद्धि भी कहते है।

परपदार्थों और उनके निमित्त से होनेवाले विकारीभावो मे अहबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एव भोक्तृत्वबुद्धि ही अज्ञान है, अप्रतिबुद्धता है ।

'ये ही मै हूँ' — इसप्रकार की मान्यता का नाम अहबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है और 'ये मेरे है, मै इनका हूँ' — इसप्रकार की मान्यता का नाम ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है । इसीप्रकार 'मै इनका कर्ता हूँ, ये मेरे कर्त्ता हैं' — इसप्रकार की मान्यता का नाम कर्तृत्वबुद्धि है और मै इनका भोक्ता हूँ, ये मेरे भोक्ता है — इसप्रकार की बुद्धि का नाम भोक्तृत्वबुद्धि है ।

इनमे कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्र्तृत्वबुद्धि का निषेध तो कर्त्ता-कर्म अधिकार मे किया जायगा, यहाँ तो एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि के सन्दर्भ मे ही विचार अपेक्षित है । यही कारण है कि इस १९वी गाथा मे अज्ञानी का स्वरूप

स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि जबतक शरीरादि नोकर्म एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परपदार्थों एव द्रव्यकर्मों के उदय से अपनी आत्मा मे उत्पन्न होनेवाले विकारीभावों मे अहंबुद्धि रहेगी, ममत्वबुद्धि रहेगी, तबतक आत्मा अज्ञानी रहेगा ।

आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार मे ७५वीं गाथा मे कहा जायगा कि कर्म के परिणाम को और नोकर्म के परिणाम को जो कर्त्ता नही है, मात्र जानता है, वह ज्ञानी है ।

यहाँ अज्ञानी की परिभाषा बताई जा रही है और वहाँ ज्ञानी की परिभाषा बताई जावेगी ।

यदि दोनो को मिलाकर बात कहें तो इसप्रकार कह सकते है कि जो कर्म मे और नोकर्म मे तथा कर्म के उदय मे होनेवाले अपने विकारी परिणामो मे अहबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखता है, वह अज्ञानी है और जो व्यक्ति इनमे अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि नही रखता है, किन्तु मात्र उन्हें जानता है, वह ज्ञानी है ।

इस १९वी गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित आत्मख्याति टीका पर विचार करने के पूर्व जयचन्दजी छाबडा का भावार्थ देख लेना उपयोगी रहेगा, क्योकि पहले उसके अध्ययन से विषयवस्तु को समझने मे विशेष सुविधा रहेगी । वह भावार्थ इसप्रकार है —

"जैसे स्पर्शादि मे पुद्गल का और पुद्गल मे स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनो एकरूप अनुभव मे आते है, उसीप्रकार जबतक आत्मा को, कर्म और नोकर्म मे आत्मा की और आत्मा मे कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है, अर्थात् दोनो एकरूप भासित होते है, तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है, और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही है, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ।

जैसे दर्पण मे अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्नि मे ही है, वह दर्पण मे प्रविष्ट नही है, और जो दर्पण मे दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है ।' इसीप्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मा मे प्रविष्ट नही हैं, आत्मा की ज्ञानस्वच्छता ही

ऐसी है कि जिसमे ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे, इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय है, इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं" – ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ।"

उक्त भावार्थ मे दो बाते स्पष्ट की है –

(१) जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य और उसके स्पर्शादि गुण हमे एक ही लगते हैं, क्योकि हमे पुद्गल मे स्पर्शादि का और स्पर्शादि मे पुद्गल का अनुभव होता है । उसीप्रकार कर्म-नोकर्म और आत्मा मे भी हमे एकत्व की भ्रान्ति होती है, वे दोनो एक ही लगते है। जबतक यह भ्रान्ति रहेगी, तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध रहेगा । किन्तु जब आत्मा यह जान लेता है कि आत्मा और कर्म-नोकर्म भिन्न-भिन्न है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञाता, चेतनद्रव्य है और कर्म-नोकर्म पुद्गल हैं, अचेतन है, तब प्रतिबुद्ध हो जाता है ।

इसप्रकार कर्म-नोकर्म मे एकत्वबुद्धि अप्रतिबुद्धता है, अज्ञान है, और भगवान आत्मा को इनसे भिन्न जानना प्रतिबुद्धता है, ज्ञान है ।

(२) जिसप्रकार दर्पण मे जो ज्वाला दिखती है, वह अग्नि की नही, दर्पण की ही स्वच्छता है, क्योकि अग्नि – ज्वाला तो दर्पण मे प्रविष्ट ही नही हुई है, वह तो अग्नि मे ही है ।

उसीप्रकार कर्म-नोकर्म तो ज्ञेय है, उनका जो प्रतिबिम्ब आत्मा मे प्रतिभासित होता है, वह आत्मा के ज्ञान की ही स्वच्छता है, क्योकि कर्म-नोकर्म तो आत्मा मे प्रविष्ट हुए ही नही है, वे तो स्वय मे ही है ।

इसप्रकार का भेदज्ञानरूप अनुभव जब आत्मा को होता है, तभी आत्मा प्रतिबुद्ध होता है ।

इसी बात को आत्मख्याति मे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है :–

"जिसप्रकार स्पर्श, रस, गध, वर्ण, आदि भावो मे तथा चौडा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गलस्कधो मे 'यह घट है' इसप्रकार की अनुभूति होती है और घट मे 'यह स्पर्श, रस, गध, वर्ण आदि

भाव तथा चौडे, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गलस्कध है' – इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है ।

उसीप्रकार जो मोह आदि अन्तरंग परिणामरूप कर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म– सभी पुद्गल के परिणाम है और आत्मा को तिरस्कार करनेवाले हैं, उनमे 'यह मै हूँ' – इसप्रकार तथा आत्मा मे 'यह मोह आदि अन्तरंग परिणामरूपकर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म आत्मतिरस्कारी पुद्गल परिणाम हैं' – इसप्रकार वस्तु के अभेद से जबतक अनुभूति है, तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है ।

जिसप्रकार रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है । इसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं ।

इसप्रकार स्वत अथवा परोपदेश से, जैसे भी हो, जिसका मूल भेदविज्ञान है, ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब ही आत्मा प्रतिबुद्ध होगा, ज्ञानी होगा।"

यद्यपि उक्त कथन से सम्पूर्ण विषयवस्तु अत्यन्त स्पष्ट हो गई है, तथापि टीका के अन्तिम अश के सम्बन्ध मे स्वामीजी के विचारो से अवगत होना आवश्यक प्रतीत होता है, जो इसप्रकार है –

"अपना ज्ञान होना और पर–राग का ज्ञान होना – यह तो अपने ज्ञान की परणति का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है । राग है, इसकारण राग का ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है, परन्तु उस काल मे अपने ज्ञान की पर्याय स्वय राग के ज्ञेयाकाररूप से परिणमित होती हुई, स्वयं ज्ञानाकाररूप हुई है । वह स्वय से हुई है, स्वयं मे हुई है, पर (ज्ञेय) से नहीं हुई है। अरूपी आत्मा को तो स्वय के और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है । यह ज्ञातृता स्वय की है, स्वय से सहज है, राग से नही और राग की भी नहीं । राग है, इसलिए राग का जानना होता है – ऐसा नही है। वस्तु का सहजस्वरूप ही ऐसा है ।

'स्वपर का प्रतिभास होना' – यह स्वय की सहज सामर्थ्य है । परपदार्थ हैं, इसकारण उनका ज्ञान होता है – ऐसा नही है । आत्मा की तो स्वपर को जाननेवाली ज्ञातृता है । उसमे कर्म व नोकर्म पुद्गल के हैं – ऐसा ज्ञात होता है ।[१]

भाई, रागादि पर है और जो पर्याय मे रागादि का ज्ञान है, वह मेरा है, ऐसा भेदज्ञान रूप अनुभव तब होता है, जबकि रागादि का लक्ष्य छोडकर अपने लक्ष्य मे आवे, तब ही इसकी परिणति मे भेदज्ञान होता है ।

शरीर, मन, वाणी, इत्यादि नोकर्म और रागादि भावकर्म – ये सब पर-पुद्गल के ही हैं, पुद्गल ही है, और इन ज्ञेयो को जाननेवाला ज्ञान मेरा है, ज्ञायक का है – ऐसी भिन्नता जानकर एक ज्ञायक सत्ता मे ही जो लक्ष्य करे, उसे भेदज्ञान होता है ।[२]"

इसप्रकार बात अत्यन्त स्पष्ट है और आगे भी इसी विषय पर मथन चलनेवाला है । अत यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नही है ।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशकाव्य कहते है –

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै
र्मुकुरवदविकारा· संततं स्युस्त एव ॥२१॥

(रोला)

जैसे भी हो स्वत· अन्य के उपदेशों से ।
भेदज्ञान मूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥२१॥

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३२५
२ वही पृष्ठ ३२८

जो पुरुष अपने आप ही अथवा पर के उपदेश से किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान है मूल जिसका, ऐसी अपने आत्मा की अविचल अनुभूति प्राप्त करते हैं, वे पुरुष ही दर्पण की भाँति अपने मे प्रतिबिम्बित हुए अनन्तभावो के स्वभावो से निरन्तर विकाररहित होते हैं, ज्ञान मे जो ज्ञेयो के आकार प्रतिभासित होते है, उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

उक्त कलश मे मूलत तो टीका की बात को ही कहा है, फिर भी इसमे दो बाते विशेष ध्यान देने योग्य हैं । पहली बात तो यह है कि अनुभूति को भेदज्ञानमूलक कहा है और दूसरी यह कि आत्मा के ज्ञानदर्पण मे अनन्तपदार्थ झलकें, पर उससे ज्ञानी आत्मविकार को प्राप्त नहीं होते । जिसप्रकार अग्नि के प्रतिबिम्बित होने से दर्पण गर्म नही होता, उसीप्रकार रागादि के ज्ञेय बनने से आत्मा रागादिरूप परिणमित नही होता ।

यदि आत्मानुभूति प्राप्त करना है तो स्व और पर के बीच भेदविज्ञान करने का प्रयत्न करना चाहिए । यही कारण है कि यहाँ आत्मा और कर्म-नोकर्म के बीच भेदविज्ञान कराया गया है । आत्मानुभूति को भेदविज्ञानमूला कहने का मूल कारण यह है कि अन्य करोडो उपाय करो, तो भी भेदविज्ञान के बिना आत्मानुभूति की प्राप्ति नही होगी । पूजा-पाठ, जप-तप, तीर्थयात्रा, व्रत-शील, सयम आदि से आत्मानुभूति प्राप्त होनेवाली नही है । आत्मानुभूति का तो एक ही मार्ग है और वह है भेदविज्ञान । इसलिए इस कलश मे प्रेरणा दी जा रही है कि कथमपि स्वतो वा अन्यतो वा कैसे भी करके स्वत अथवा अन्य से जैसे भी हो, मरपच के भी एक आत्मानुभूति प्राप्त करो, क्योकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है ।

यह आत्मानुभूति दो प्रकार से होती है । — यह बताना मूल प्रयोजन नही है, मूलप्रयोजन तो यह है कि इस पर बहस मत करो कि वह स्वत प्राप्त होगी या पर से, जैसे भी हो, उसे प्राप्त करने का उग्र पुरुषार्थ करो। साधन की दृष्टि से तो अनुभूति को भेदविज्ञानमूला कहा है । साधन तो एकमात्र भेदविज्ञान ही है, कोई अन्य नहीं । अन्यतो वा कहकर तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराया है ।

प्राप्त करने योग्य तो एक मात्र आत्मानुभूति ही है और उसका उपाय एकमात्र भेदविज्ञान है । यही कारण है कि आगे सवर अधिकार के एक कलश मे तो यहाँ तक कहेंगे कि –

"भेदविज्ञानत सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जितने भी जीव आजतक सिद्ध हुए है, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी ससार मे बधे है, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बधे हैं ।"

और भी अनेक स्थानों पर भेदविज्ञान की महिमा विविध प्रकार से गाई गई है, जिसे जानकर पूरी शक्ति लगाकर भेदविज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि परपदार्थों के जानने से न तो लाभ है और न हानि ही है । उनके नही जानने से तो हमारा कुछ बिगडनेवाला है ही नही, परन्तु अपने ज्ञान मे उनके ज्ञेय बनने से भी कुछ बिगडनेवाला नही है, क्योकि जिसप्रकार दर्पण मे अनन्त पदार्थ झलकते है, पर उससे दर्पण विकृत नही होता, उसीप्रकार अनन्त ज्ञेयो के जानने से भी हमारा ज्ञानदर्पण विकृत होनेवाला नहीं है । बिगडता तो उन्हें अपना जानने से है, अपना मानने से है, उनमे ही जमने-रमने से है, उनका ही ध्यान करने से हैं, अकेले जानने मात्र से कुछ भी बिगाड-सुधार नही है । अत न उन्हे जानने का हट करना चाहिए और न नही जानने का भी हट करना चाहिए। सहजभाव से जैसे जो ज्ञात हो जावे, हो जाने दे, न होवे तो, न होने दे, उनके प्रति सहजभाव धारण करना ही श्रेयस्कर है ।

इस कलश मे इन्हीं दो बातो पर वजन दिया गया है ।

इस कलश के भाव को बनारसीदासजी ने निम्नांकित छन्द मे इसप्रकार व्यक्त किया है –

(सवैया तेईसा)

कै अपनौ पद आप सभारत, कै गुरु के मुख की सुनि वानी।
भेदविग्यान जग्यो जिन्हि कै, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी ॥
भाव अनंत भये प्रतिबिम्बित जीवन मोख दसा ठहरानी ।
ते नर, दर्पण ज्यौं अविकार रहैं थिररूप सदा सुखदानी ॥

इसप्रकार इस कलश मे यही प्रेरणा दी गई है कि जैसे भी हो स्वत या परसे, परन्तु भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभूति को अवश्य प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि यह भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभूति की ही महिमा है कि जिसके कारण अनन्त ज्ञेयो को जानने पर भी ज्ञान अविकारी ही रहता है ।

इसके बाद दो गाथाएँ आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति मे प्राप्त होती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति मे नही हैं । वे दोनो गाथाएँ इसप्रकार है –

जीवे व अजीवे वा सपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

जब जीव मे उपयोग लगता है तो मोक्ष होता है और अजीव मे उपयोग लगता है तो बंध होता है । बध और मोक्ष की सक्षेप मे यही प्रक्रिया है ।

निश्चयनय से आत्मा जिस भाव को करता है, उसी भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहारनय से पुद्गलकर्म का कर्त्ता होता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका मे तो ये गाथाए हैं ही नही, आचार्य जयसेन ने भी इनका सामान्य अर्थ ही लिखा है, विशेष कुछ नही कहा है । उन्होने इनके बारे मे जो कुछ कहा है उसका सार इसप्रकार है –

"शुद्धजीव मे उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि से परिणत हुआ तो मोक्ष होता है और देहादिक अजीव मे उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि से परिणत

हुआ तो बंध होता है — ऐसा संक्षेप मे सर्वज्ञ भगवान ने कहा है । इसलिए सहजानन्दस्वभावी निजात्मा में रति करना चाहिए और परद्रव्य मे रति नहीं करना चाहिए ।

यह आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धभावो का और शुद्धनिश्चनय से शुद्धभावो कर्ता है तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता है । अत संसार से भयभीत मुमुक्षुओ के द्वारा रागादि से रहित निज शुद्धात्मा की भावना करना चाहिए ।"

सबकुछ मिलाकर सार यह है कि देहादि परपदार्थों से एकत्व, ममत्व छोड़कर, उनके कर्तृत्व से भी मुख मोड़कर निज शुद्धात्मा की आराधना करना ही श्रेयस्कर है ।

दूसरी गाथा की प्रथम पंक्ति कर्ता-कर्म अधिकार मे दो स्थानो पर हूबहू प्राप्त होती है। आत्मख्याति के अनुसार उनकी क्रम सख्या ९१ एव १२६ है और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार उनकी सख्या क्रमश ९८ एव १३४ है। उक्त गाथा मे जो विषयवस्तु है, वह भी कर्ता-कर्म भाव से सबधित है, अत इसपर विस्तृत मीमासा कर्ता-कर्म अधिकार मे करना ही उचित प्रतीत होता है ।

आगामी गाथाओ की संधि भी १९वी गाथा से ही मिलती है ।

भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनन्दन और क्या होगा ? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारटी हो गई । पर इस मूर्ख जगत ने यदि भगवान भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत ? स्वभाव से तो सभी भगवान है, पर जो पर्याय से भी वर्तमान मे हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नही बनाया वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है ।

विनय बहुत ऊँची चीज है, उसे इतने नीचे स्तर पर नहीं लाना चाहिए । भाई साहब । विनय तो वह तप है जिससे निर्जरा और मोक्ष होता है, वह क्या चापलूसी से हो सकता है ? नही, कदापि नहीं ।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १०८

समयसार गाथा २० से २२

१९वी गाथा मे यह कहा था कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म मे एकत्व-ममत्व रखेगा, तबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा, अत अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे पहिचाने कि यह व्यक्ति अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है ? तात्पर्य यह है कि अज्ञानी की पहिचान के चिन्ह क्या है ?

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप आगामी २० से २२ तक की गाथाये लिखी गई है, जो इसप्रकार है –

अहमेद एदमह अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एद ।
अण्ण ज परदव्व सच्चित्ताचित्तमिस्स वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेद एदस्स अह पि आसि पुव्व हि ।
होहिदि पुणो ममेद एदस्स अह पि होस्सामि ॥२१॥

एय तु असब्भूद आदवियप्प करेदि समूढो ।
भूदत्थ जाणतो ण करेदि दु त असमूढो ॥२२॥

(हरिगीत)

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब परद्रव्य ये ।
है मेरे ये मै इनका हूँ ये मै हूँ या मै हूँ वे ही ॥२०॥

हम थे सभी के या हमारे थे सभी गतकाल में ।
हम होयगे उनके हमारे वे अनागत काल में ॥२१॥

ऐसी असंभव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें ।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें ॥२२

जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्यों में – सचित्त स्त्री-पुत्रादिक मे, अचित्त धन-धान्यादिक मे, मिश्र ग्राम-नरगादिक मे – ऐसा विकल्प करता है, मानता है कि मै ये हूँ, ये सब द्रव्य मै हूँ, मै इनका हूँ, ये मेरे है, ये मेरे पहले

थे, इनका मै पहले था, तथा ये सब भविष्य मे मेरे होगे, मै भी भविष्य मे इनका होऊँगा – वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है, किन्तु जो पुरुष वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानता हुआ ऐसे झूठे विकल्प नही करता है, वह ज्ञानी है ।

तात्पर्य यह है कि पर मे अपनापन अनुभव करनेवाले अज्ञानी हैं और अपने आत्मा मे अपनापन अनुभव करनेवाले ज्ञानी हैं । ज्ञानी-अज्ञानी की मूलत यही पहिचान है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को अग्नि और ईंधन का उदाहरण देकर आत्मख्याति मे इसप्रकार समझाते है –

"जिसप्रकार कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि जो अग्नि है, वही ईंधन है और जो ईंधन है, वही अग्नि है, अग्नि का ईंधन है और ईंधन की अग्नि है, अग्नि का ईंधन पहले था और ईंधन की अग्नि पहले थी, अग्नि का ईंधन भविष्य मे होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य मे होगी – इसप्रकार के विकल्पो से अज्ञानी पहिचाना जाता है ।

इसीप्रकार परद्रव्यो मे – मै ये परद्रव्य हूँ, ये परद्रव्य मुझरूप है, ये परद्रव्य मेरे हैं, मै इन परद्रव्यो का हूँ, ये पहले मेरे थे, मै पहले इनका था, ये भविष्य मे मेरे होगे और मै भी भविष्य मे इनका होऊँगा – इसप्रकार के झूठे विकल्पो से अप्रतिबुद्ध अज्ञानी पहिचाना जाता है ।

अग्नि है, वह ईंधन नही है और ईंधन है, वह अग्नि नही है, अग्नि है, वह अग्नि ही है और ईंधन है, वह ईंधन ही है । अग्नि का ईंधन नही है और ईंधन की अग्नि नही है, अग्नि की अग्नि है और ईंधन का ईंधन है । अग्नि का ईंधन पहले नही था, ईंधन की अग्नि पहले नही थी, अग्नि की अग्नि पहले थी, ईंधन का ईंधन पहले था, अग्नि का ईंधन भविष्य मे नहीं होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य मे नही होगी, अग्नि की अग्नि ही भविष्य मे होगी और ईंधन का ईंधन ही भविष्य मे होगा।

इसप्रकार जैसे किसी को अग्नि मे ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो, तो वह उसके प्रतिबुद्ध होने का लक्षण है ।

इसीप्रकार मै ये परद्रव्य नहीं हूँ और ये परद्रव्य मुझस्वरूप नही है, मै तो मै ही हूँ और परद्रव्य हैं, वे परद्रव्य ही है, मेरे ये परद्रव्य नही हैं और इन परद्रव्यो का मै नही हूँ, मै मेरा हूँ और परद्रव्य के परद्रव्य हैं, ये परद्रव्य पहले मेरे नही थे और इन परद्रव्यो का मै पहले नही था, मेरा ही मै पहले था और परद्रव्यो के परद्रव्य ही पहले थे । ये परद्रव्य भविष्य मे मेरे नही होगे और न मै भविष्य मे इनका होऊँगा, मै भविष्य मे अपना ही रहूँगा और ये परद्रव्य भविष्य मे इनके ही रहेगे ।

इसप्रकार जो व्यक्ति स्वद्रव्य मे ही आत्मविकल्प करते है, स्वद्रव्य को निज जानते-मानते है, वे ही प्रतिबुद्ध हैं, ज्ञानी हैं । ज्ञानी का यही लक्षण है और इन्ही लक्षणो से ज्ञानी पहिचाना जाता है ।"

उक्त कथन मे अनेकप्रकार से एक ही बात कही गई है कि परद्रव्यो मे एकत्व-ममत्व करना ही अज्ञान है और परद्रव्यो से एकत्व-ममत्व तोडकर अपने आत्मा मे एकत्व-ममत्व करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन है । अत इस एकत्व-ममत्व के आधार पर ही ज्ञानी-अज्ञानी की पहिचान होती है ।

यहाँ एकत्व-ममत्व को अग्नि व ईंधन के उदाहरण से तीनो कालों की अपेक्षा घटित करके समझाया गया है । गाथा मे व टीका मे उसी को सर्वांग घटित करके स्पष्ट किया है । अत कुछ पिष्टपेषण-सा लगता है, पर यह तो मूल बात है और अपने अन्तर मे गहराई से उतारने की बात है । अत इसमे पिष्टपेषण दोष नहीं, गुण माना जाता है, क्योंकि आखिर हमे पर से एकत्व-ममत्व तोडना है और अपने मे एकत्व-ममत्व जोडना है। इसलिए इसप्रकार की भावना अनवरतरूप से भाना ही होगी ।

आचार्य जयसेन की टीका मे और सब बातें तो आत्मख्याति के समान ही है, पर एक बात विशेष है । वह यह कि उन्होंने सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यों को गृहस्थ की अपेक्षा, तपोधन मुनिराजो की अपेक्षा एव निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुष की अपेक्षा पृथक्-पृथक् घटित करके समझाया है ।

उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है :—

"उनमे गृहस्थ की अपेक्षा छात्रादि स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त एवं वस्त्राभूषण सहित स्त्री आदि मिश्र हैं । तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी कमण्डलु पुस्तक आदि अचित्त और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र हैं अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त एव द्रव्यकर्म और भाव – दोनों मिलाकर मिश्र हैं । विषय-कषाय रहित निर्विकल्प समाधि मे स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचित्त और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादिरूप परिणत ससारीजीव का स्वरूप मिश्र है ।"

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) की पहिचान का चिन्ह क्या है? हम कैसे जाने कि यह अप्रतिबुद्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि जो व्यक्ति सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यों मे अपनेपन का विकल्प करता है, वह अज्ञानी है और जो भूतार्थ को जानते हुए परपदार्थो मे इसप्रकार के आत्मविकल्प नही करता है, वह ज्ञानी है, प्रतिबुद्ध है ।

उक्त गाथा की टीका मे सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यो की व्याख्या मे आचार्य अमृतचन्द्र तो एकदम मौन है, क्योंकि उनकी दृष्टि मे यह अत्यन्त सरल बात है, जिसे सभी अच्छी तरह समझते हैं । अत उन्होने इनकी व्याख्या मे कुछ लिखने की आवश्यकता ही नही समझी, पर आचार्य जयसेन ने उक्त व्याख्या की है ।

उक्त व्याख्या मे गृहस्थ, तपोधन, परमसमाधि मे स्थित – इन तीनो की अपेक्षा बताकर वे क्या कहना चाहते है ? – इस बात को गहराई से समझना चाहिए, क्योंकि गृहस्थो मे तो ऐसा अज्ञान सभव है कि वे स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्यादि परद्रव्यो मे आत्मविकल्प करे, उन्हें अपना माने, पर तपोधन तो ज्ञानी धर्मात्मा होते हैं, वे इसप्रकार की मान्यता छात्रादि मे कैसे कर सकते हैं ? यदि यह भी मान ले कि कोई वेशधारी ऐसा करे, उसकी अपेक्षा यह बात है, तो भी जो निर्विकल्पसमाधि में स्थित हैं,

वे तो ऐसा मान ही नही सकते । वे तो किसी परद्रव्य को न तो अपना मान ही सकते हैं और न उन्हें इसप्रकार के विकल्पो की उत्पत्ति सभव है, क्योंकि वे तो निर्विकल्पसमाधि मे रत हैं ।

अत यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि गृहस्थ की अपेक्षावाला जो उदाहरण है, वह तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी पर घटित होगा और शुभोपयोगी तपोधन एव निर्विकल्पसमाधि मे स्थित तपोधनवाला उदाहरण मात्र ज्ञानी पर ही घटित होगा । तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ शरीरादि परद्रव्यो मे आत्मविकल्प करते हैं, वे अज्ञानी हैं और जो गृहस्थ एवं शुभोपयोग में प्रवर्तमान तपोधन व निर्विकल्पसमाधिरत तपोधन शरीरादि परद्रव्यों मे आत्मविकल्प न करके अपने आत्मा को ही निज जानते-मानते हैं, वे ज्ञानी धर्मात्मा हैं, प्रतिबुद्ध हैं ।

अब आचार्य अमृतचन्द्र कलश के माध्यम से प्रेरणा देते हैं कि हे जगतजनो। पर से एकत्व का मोह अब तो छोडो; क्योंकि यह आत्मा, अनात्मा के साथ कभी भी एकत्व को प्राप्त नहीं होता ।

कलश मूलत इसप्रकार है –

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तदात्म्यवृत्तिम्॥२२॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड दो ।
रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ॥
तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ॥२२॥

हे जगत के जीवो । अनादि से लेकर आजतक अनुभव किये गये मोह को कम से कम अब तो छोडो और रसिकजनो को रुचिकर उदित ज्ञान

का आस्वादन करो, क्योंकि आत्मा इस लोक मे किसी भी स्थिति मे अनात्मा के साथ तादात्म्य को धारण नही करता, पर के साथ एकमेक नही होता।

'रसिकजन' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष किया है । सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवो की रुचि तो एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा मे होती है, वे तो निरन्तर उसी मे रहना चाहते हैं, उसी मे रमना चाहते हैं, क्योंकि उनका अपनापन तो अपने त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव मे ही स्थापित हो गया है ।

यहाँ आचार्यदेव जगत के जीवो को सम्बोधित करते हुए समझा रहे है कि तुम भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओ के समान निज ज्ञानानन्दस्वभाव का ही आस्वादन करो, उसमे ही अपनापन स्थापित करो, उसमे ही जम जावो, रम जावो, क्योंकि परके साथ तुम्हारा कोई भी सम्बन्ध नही है । ये शरीरादि परपदार्थ न तो आजतक तुम्हारे हुए है और न कभी होगे ही।

अरे भाई, तुमने अनादि से आज तक परपदार्थों मे ही अपनापन स्थापित किया है, निजभगवान आत्मा को कभी जाना ही नही, इसकारण अनत दु:ख उठाये है । फिर भी उन्ही परपदार्थों से एकत्व स्थापित किये हो और अनन्त दु:खी हो रहे हो । अरे भाई, अब तो इस एकत्व के मोह को छोडो और अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित करो।

शरीरादि परपदार्थो मे, रागादि विकारी भावो मे एकत्व स्थापित करना ही दर्शन मोह है, मिथ्यात्व है । यहाँ उस एकत्व छोडने की ही प्रेरणा दी जा रही है ।

इस कलश की महिमा से विभोर होते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"अहो । अमृतचन्द्राचार्य के कलश बहुत गभीर हैं । टीका भी बहुत गभीर है । जिसप्रकार ग्वाला गाय के स्तनो मे से दोहन करके दूध निकालता है, उसीप्रकार शास्त्रों मे भरे हुये भावो को अमृतचन्द्र ने तर्क की ताकत लगाकर निकाला है और टीका मे भर दिया है ।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है और राग अचेतन है । चाहे दया, दान, व्रतादि का विकल्प हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो, ये सब विकल्प अचेतन है, इनमे ज्ञानस्वभाव की किरण नहीं हैं । इसलिए उस राग का स्वाद छोडकर इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को आस्वादो । भगवान आत्मा मे आनन्द का स्वाद है । अनादिकाल से राग का स्वाद लिया, वह दुख का, आकुलता का स्वाद था, उसमे कुछ नया नही है । यदि कुछ नया करना हो तो ज्ञान को आस्वादो । – ऐसा कहते हैं ।[1]"

इसप्रकार इस कलश मे पर के साथ एकत्व के मोह को तोडने एव अपने मे एकत्व स्थापित करने की प्रेरणा देकर आचार्यदेव अब आगामी गाथा मे तर्क से, युक्ति से इसी बात को समझाते हैं । •

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३४८

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के सयोगों और सयोगीभावों में महान अन्तर हो सकता है । कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सवार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र । सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सवार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते ।

सयोग और सयोगीभावों मे महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है । अत सयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी सयोग और सयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता ।

– पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ३८

समयसार गाथा २३ से २५

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिण भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्व ॥२५॥

(हरिगीत)

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय ।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहे ॥२३॥
सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह ।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे? ॥२४॥
जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब ।
'ये मेरे पुद्गल द्रव्य है' – यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह-राग-द्वेष आदि अनेक भावो से युक्त है, ऐसा जीव कहता है कि ये शरीरादि बद्ध और धनधान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे है।

उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है कि जिससे तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तू कह सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

पर यह तो संभव नही है, अत तुम्हारा यह कहना ठीक नही है कि शरीरादि बद्ध और धनधान्यादि अबद्ध परपदार्थ मेरे हैं ।

गाथा और आत्मख्याति टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबडा भावार्थ मे लिखते हैं –

"यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है । यहाँ उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन द्रव्य – दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकार से एक नहीं होते – ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है । इसलिए हे अज्ञानी । तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड दे, व्यर्थ की मान्यता से बसकर ।

आचार्य जयसेन भी इन तीनो गाथाओ के शब्दार्थ को स्पष्ट करने के उपरान्त निष्कर्ष के रूप मे कहते हैं –

"जिसप्रकार बरसात मे नमक जलरूप हो जाता है और गर्मियो मे वही जल फिर नमकरूप हो जाता है, उसीप्रकार यदि जीव चेतनता छोडकर पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे और पुद्गल मूर्तपने को छोडकर चेतनरूप हो जावे तो तेरा कहना सत्य हो सकता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

किन्तु हे दुरात्मन् । ऐसा कभी होता नही है, क्योंकि इसमे प्रत्यक्ष ही विरोध भासित होता है अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से ही विरोध आता है । हम तो स्पष्ट देख रहे है कि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाला अमूर्तजीव इस जड देह से एकदम भिन्न ही है ।"

गाथा की भावना को आत्मसात करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति मे अनेक उदाहरणो से गाथा के मर्म को खोलते हुए कहते हैं –

"जिसप्रकार स्फटिक पाषाण मे अनेकप्रकार के रंगो की निकटता के कारण अनेकरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निर्मलस्वभाव दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार एक ही साथ अनेकप्रकार की बधन की उपाधि की अतिनिकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावो के सयोगवश अपने स्वभावभाव के तिरोभूत हो जाने से, जिसकी भेदज्ञानज्योति पूर्णत अस्त हो गई है और अज्ञान से विमोहित है हृदय जिसका, – ऐसा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीव स्वपर का

भेद न करके उन अस्वभावभावों को अपना मानता हुआ पुद्गलद्रव्य मे अपनापन स्थापित करता है ।

ऐसे अज्ञानीजीव को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मन्। घास और अनाज को परम-अविवेकपूर्वक एकसाथ खानेवाले हाथी के समान तू स्व और पर को मिलाकर एक देखने के इस स्वभाव को छोड । छोड।। सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से सपूर्णत रहित एव विश्व की एकमात्र अद्वितीय ज्योति – ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान मे जाना गया नित्य उपयोगलक्षण जीवद्रव्य पुद्गल कैसे हो गया, जो तू कहता है, अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो, तभी 'नमक के पानी' के अनुभव की भाँति तेरी यह अनुभूति ठीक हो सकती है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है, किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से बनता नही है ।

अब इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं । जिसप्रकार खारापन है लक्षण जिसका, ऐसा नमक पानीरूप होता दिखाई देता है और प्रवाहीपन है लक्षण जिसका ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है, क्योकि खारेपन और प्रवाहीपन मे एकसाथ रहने मे कोई विरोध नहीं है, कोई बाधा नही है । किन्तु नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होता दिखाई नही देता और नित्य अनुपयोगलक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप होता हुआ दिखाई नहीं देता, क्योंकि प्रकाश और अधकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का एक ही साथ रहने मे विरोध है । इसकारण जड और चेतन कभी एक नही हो सकते ।

इसलिए तू सर्वप्रकार प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर ।"

इन गाथाओ के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव का हृदय आन्दोलित हो उठा है । तभी तो वे एक ओर 'हे दुरात्मन्' इस शब्द का

उपयोग करते हैं वही दूसरी ओर 'प्रसीद' 'विबुध्यस्व' इन प्रेरणादायक कोमल शब्दो का उपयोग करते हैं, जिसका अर्थ होता है प्रसन्न होवो, चित्त को शान्त करो, समझो, सावधान होवो, नादानी न करो ।

इसके तत्काल बाद जो कलश उन्होंने लिखा है, उसमे भी अत्यन्त कोमल शब्दो मे समझाया है ।

टीका मे गाथा का भाव एकदम स्पष्ट हो गया है, क्योंकि इसमे स्फटिक पाषाण, हाथी आदि पशु, नमक के पानी तथा प्रकाश और अंधकार का उदाहरण देकर बात को एकदम सरल एव सहज बोधगम्य बना दिया गया है।

यद्यपि स्फटिक पाषाण एकदम निर्मल होता, स्वच्छ होता है, तथापि अनेक पदार्थो के सयोग के कारण अनेक रगोमय दिखाई देता है, उसका मूलस्वभाव तिरोहित हो जाता है, दिखाई नही देता है, इसकारण स्फटिक के स्वभाव को न जाननेवाले लौकिकजन उसे अनेक वर्णवाला ही मान लेते हैं । उसीप्रकार भेदविज्ञान की ज्योति से रहित अज्ञानीजन भी आत्मा के मूलस्वभाव को निर्मल—स्वच्छस्वभाव को न जानने के कारण अनादिबधन की उपाधि से होनेवाले विभावभावो को ही आत्मा का स्वभाव मान लेते है और इसीकारण पुद्गलद्रव्य मे अपनापन स्थापित कर लेते है ।

जिसप्रकार हाथी आदि पशु अनाज मिश्रित घास खाते हैं, पर उस मिश्रितस्वाद मे यह भेद नही कर पाते हैं कि इसमे घास का स्वाद क्या है और अनाज का स्वाद क्या है । वे उस मिश्रितस्वाद को घास का ही स्वाद समझते हैं, इसीप्रकार आत्मा और पुद्गल को एक साथ जाननेवाले अज्ञानीजन भेदविज्ञान के अभाव मे दोनो की भिन्न पहिचान नही कर पाते है और पुद्गल मे अपनापन स्थापित कर लेते हैं ।

खारा पानी जमकर नमक बन जाता है और वह नमक घुलकर पानी हो जाता है, क्योंकि प्रवाहीपन और नमक के खारेपन का एकसाथ रहने मे कोई विरोध नहीं है, परन्तु आत्मा चेतन है और पुद्गल अचेतन है तथा चेतन और अचेतन का एकसाथ होने मे प्रकाश और अधकार के समान प्रत्यक्ष

विरोध है । अत पुद्गल को आत्मा और आत्मा को पुद्गल नहीं माना जा सकता है ।

ऐसी स्थिति मे पुद्गलद्रव्य को अपना कहना युक्तिसगत नहीं है, शास्त्रसंगत भी नहीं है, अपितु प्रत्यक्षादि प्रमाणो से असिद्ध है, विरुद्ध है। इसलिए पुद्गलद्रव्य मे अपनापन स्थापित करना अज्ञान है, मिथ्यात्व है, अनतससार का कारण है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की आत्मख्याति नामक टीका मे पुद्गल का लक्षण अनुपयोग बताते है । इसका रहस्य उद्घाटित करते हुए स्वामीजी समझाते हैं –

"यहाँ पुद्गल का अर्थ जड (स्पर्श, रस, गध, वर्णवाला पुद्गल) नही, अपितु अन-उपयोगस्वरूप दया, दान, व्रतादिक परिणाम है । ये स्वय को अथवा पर को नहीं जानते, इसकारण इन्हे जड, अचेतन या पुद्गल कहा है । ये रागादि परिणाम चैतन्य – उपयोगस्वरूप से भिन्न चीज है ।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ने तो तुझे उपयोगस्वरूप देखा है, पर तू यह झूठी मान्यता कहाँ से लाया कि मै तो रागस्वरूप हूँ । वर्तमान पर्याय ने उपयोग मे दया, दान, व्रतादि के राग को लक्ष्य मे लेकर 'यह राग मेरा अस्तित्व' – ऐसा माना तो यह तो पुद्गल का ही अनुभव हुआ, भगवान आत्मा का अनुभव तो रह ही गया ।[१]

जो ज्ञानपर्याय जिस आत्मद्रव्य की है, उस ज्ञानपर्याय ने उसी आत्मद्रव्य को ज्ञेय न बनाकर जो राग उसमे नही है, उस राग को ज्ञेय बनाया और उसी मे एकत्वबुद्धि की – यही मिथ्यात्व है । ऐसी मान्यतावाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं । पूर्णानन्द के नाथ त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को दृष्टि मे लेकर 'यह आत्मा मै हूँ' – ऐसा जिस पर्याय ने स्वीकार किया, वह पर्याय सत्य हुई, क्योंकि उस पर्याय मे सत्य की स्वीकृति है; और यही पर्याय सम्यग्दर्शन है, धर्म है ।[२]

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३६०
२ वही पृष्ठ ३६२

यह शरीर, स्त्री, लडका, ग्राम और देश तो कितने दूर हैं, प्रगट पर हैं, जो इनको भी अपना माने, उनकी मूर्खता का तो कोई ठिकाना नहीं। प्रभु । यह तो तेरी मूल में ही भूल है । यहाँ तो सूक्ष्म बात की है। यह जीव-अधिकार है, इसलिए कहते हैं कि ये व्रत-तप आदि के विकल्प अजीव हैं, जीव नहीं, क्योंकि यदि ये जीव हो तो भिन्न नहीं हो सकते, किन्तु ये तो भिन्न हो जाते है, अत ये दोनो सर्वथा जुदे-जुदे हैं, किसी भी प्रकार एक नहीं हैं ।[१]"

आचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर समझाते हैं कि सर्वज्ञभगवान के ज्ञान मे तो यह आया है कि जीव सदा ही उपयोगलक्षणवाला है और पुद्गल मे, रागादि मे ज्ञानदर्शन-उपयोग है ही नहीं, फिर तू उसे अपना कैसे कह सकता है? अत अब तू पुद्गल को, रागादि को अपना मानना छोड और उससे भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का अनुभव कर ।

यही बात आगामी कलश मे भी कही जा रही है कि कैसे भी हो, मरपच कर भी, देह से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव कर ।

आत्मानुभव की पावन प्रेरणा देनेवाला वह कलश मूलत इसप्रकार है :—

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

(हरिगीत)

निजतत्त्व का कौतूहली अर पडौसी बन देह का ।
हे आत्मन् । जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही ।
तुम छोड दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ॥२३॥

---

१ प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३६९

अरे भाई । किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी निजात्मतत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यो का एक मुहूर्त को पडोसी बनकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे तू अपने आत्मा के विलास को सर्व परद्रव्यो से भिन्न देखकर, इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यो के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड देगा ।

आचार्यदेव करुणा से अत्यन्त विगलित हो मर्मस्पर्शी कोमल शब्दो मे समझा रहे है कि अरे भाई । मरणतुल्य कष्ट हो तो भी एकबार पर से भिन्न अपने आत्मा को समझने का उग्र पुरुषार्थ करो । आत्मा के समझने मे न तो कोई कष्ट ही होनेवाला है और न मृत्यु होने की बात ही है, तथापि आचार्यदेव ऐसा कहकर आत्मज्ञान की महिमा बता रहे है, उपयोगिता बता रहे हैं, यह कह रहे हैं कि मृत्यु की कीमत पर भी यदि आत्मज्ञान प्राप्त होता हो तो भी करना, क्योंकि उसके बिना दुख दूर होनेवाला नही है और आत्मज्ञान होने पर कोई कष्ट रहनेवाला नही है । अत जैसे भी बने आत्मा का अनुभव करने का उग्र पुरुषार्थ करना चाहिए ।

जगत के पदार्थो को जानने का कौतूहल तो लोक मे सर्वत्र पाया जाता है, पर उनके जानने से आत्मा को कोई लाभ नही होता, ससारसागर की एक बूद भी कम नही होती और अपने आत्मा को अनुभवपूर्वक जानने से सम्पूर्ण ससारसागर सूख जाता है । अत हे भव्यजीवो । कोतूहल मे ही सही एकबार आत्मा को जानने का पुरुषार्थ तो करो । आत्मतत्त्व का कोतूहली बनकर और शरीरादि परपदार्थो का पडौसी बनकर एकबार आत्मा का अनुभव करके तो देखो, तुम्हारा जीवन बदल जावेगा ।

अबतक तो तुमने देह मे एकत्वबुद्धि की है, अहबुद्धि की है, ममत्वबुद्धि की है, स्वामित्वबुद्धि की है, पर इससे अनन्तदुखो के अलावा तुम्हे क्या मिला ? एकबार इस बात पर गभीरता से विचार करो और एकबार इस देह के पडौसी बनकर देखो तो तुम्हारा इसमे जो एकत्व का मोह है, वह अवश्य ही टूट जावेगा, छूट जावेगा और अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगेगी, जो आगे जाकर आनन्द के सागर मे परिणमित हो जावेगी ।

जिसप्रकार हम पडौसी को अपना भी नही मानते और उससे असद्व्यवहार भी नहीं करते; उसीप्रकार इस देह मे एकत्वबुद्धि भी नही रखना और इससे असद्व्यवहार भी नहीं करना । इससे पडौसी धर्म तो निभाना, पर इसे अपने घर मे नही बिठा लेना । हमे पक्का विश्वास है कि यदि तुम एकबार भी परद्रव्यो से भिन्न अपने भगवान आत्मा का विलास देखोगे, वैभव देखोगे, तो अवश्य ही पर से एकत्व के मोह को छोड दोगे । अत. भाई । तुम हमारी बात सुनो और एकबार आत्मतत्त्व के कौतूहली बनकर उसे देह से भिन्न अनुभव करो, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ।

यदि पडौसी का जीवन खतरे मे हो तो हम उसकी सुरक्षा करते है, उसे जीवनयापन मे सहज सहयोग करते है, पर उसके लिए अपना जीवन बरबाद नहीं करते, उसके लिए भोगसामग्री नही जुटाते । इसीप्रकार इस देह की सुरक्षा के लिए शुद्धसात्विक आहार का ग्रहण आदि करो, पर इसके पीछे अभक्ष्यादि का भक्षण कर नर्क-निगोद जाने की तैयारी मत करो । इसे शत्रु भी मत मानो, इससे शत्रु जैसा व्यवहार भी मत करो और घरवाला भी न मानो, घरवालो जैसा भी व्यवहार न करो । बस, पडौसी जैसा व्यवहार करो – यही उचित है ।

इसके लिए जीवन का सर्वस्व समर्पण करना उचित नहीं है, सर्वस्व समर्पण तो निज भगवान आत्मा पर ही करना है ।

इसमे एक मुहूर्त अर्थात् दो घडी आत्मा का अनुभव करने की बात कही है, क्योकि एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मध्यान करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । इसी बात को ध्यान मे रखकर पण्डित जयचन्दजी छाबडा इसी कलश के भावार्थ मे लिखते हैं –

"यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो) परीषह आने पर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो । जब आत्मानुभूति की ऐसी महिमा है, तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन

की प्राप्ति होना तो सुगम ही है । इसलिए श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है ।"

प्रश्न :— केवलज्ञान तो अन्तर्मुहूर्त मे होता है, किन्तु यहाँ एक मुहूर्त तक अनुभव करने की बात कही है । ऐसा क्यों है?

उत्तर :— अन्तर्मुहूर्त माने मुहूर्त के भीतर ही । जब एक मुहूर्त के भीतर ही केवलज्ञान होता है तो फिर जो एक मुहूर्त लगातार आत्मध्यान करेगा, उसके तो होना ही है। अत इसप्रकार के कथन मे कोई दोष नहीं है।

ध्यान रहे, एक घडी २४ मिनट की होती है और दो घडियो का एक मुहूर्त होता है।

प्रश्न ·— कलश टीका मे तो अनुभव को सहजसाध्य कहा है और यहाँ आचार्य उग्र पुरुषार्थ करने की बात कह रहे हैं?

उत्तर .— इसी कलश की टीका मे कलशटीकाकार उक्त शका का समाधान इसप्रकार करते हैं —

"भावार्थ इसप्रकार है कि शुद्धचैतन्य का अनुभव तो सहजसाध्य है यत्नसाध्य तो नही, पर इतना कहकर यहाँ अत्यन्त उपादेयपने को दृढ़ किया है ।"

वस्तुत· बात यह है कि सहजसाध्य और पुरुषार्थ मे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि आत्मानुभव का पुरुषार्थ भी सहज ही होता है अथवा सहज होना ही आत्मानुभूति का सम्यक्पुरुषार्थ है । जब हमारी दृष्टि मे आत्मानुभव अत्यन्त उपादेयपने स्थापित हो जावेगा तो अन्तर मे रुचि की तीव्रता से अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ सहज ही स्फुरित होगा । 'रुचि अनुयायी वीर्य' इस उक्ति के अनुसार वीर्य रुचि के अनुसार ही स्फुरायमान होता है ।

उक्त कलश के भाव को कविवर पण्डित बनारसीदास ने नाटक समयसार मे इसप्रकार प्रस्तुत किया है —

(सवैया इकतीसा)

"बानारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
कैहूँ भाति कैसे हूँ कै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यात कौ विधुंस होइ,
ग्यान कौ जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।।
वाही कौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौं ही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वास कौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोह कौ अनन्तकाल जीजिए ॥२४॥

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि हे भाई। हे भव्यजीवो ।। तुम मेरी सीख ध्यान से सुनो। किसी भी तरह कुछ भी करके ऐसा कार्य अवश्य करो कि एक मुहूर्त को मिथ्यात्व का नाश होकर ज्ञान का अश जागृत हो जावे और आत्मारूपी हंस की प्राप्ति हो जावे।

एकबार ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर फिर जन्मभर उस ही का विचार करते रहो, उस ही का ध्यान करते रहो, उसी मे क्रीडा करते रहो, — इसप्रकार सम्पूर्ण जीवन भर अतीन्द्रिय आनन्दरूपी परमरस का पान करते रहो। राग-द्वेष रूप विलास एव सस्कार का वास छोडकर तथा मोह का नाश कर अनन्तकाल तक सच्चा जीवन जीते रहो। सच्चा जीवन तो आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्माओ का ही है, शेष सब तो भवभ्रमण ही है।

मोहभाव की उत्पति ही मरण है, भावमरण है और मोह का अभाव ही जीवन है, सुखी जीवन है, शान्त जीवन है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि मोह का नाश कर अनन्तकाल तक अनन्त-आनन्दमय जीवन जीने का सौभाग्य प्राप्त करो।

प्रश्न :— मोह का नाश किसप्रकार करें? मोह के नाश का उपाय क्या है, सम्यक्पुरुषार्थ क्या है?

उत्तर :— शरीरादि परपदार्थों और उनके लक्ष्य से होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भावो में अपनापन ही मोह है, उनमें एकत्वबुद्धि और

ममत्वबुद्धि ही मोह है । इस मोह के नाश का उपाय किसीप्रकार का कोई क्रियाकाण्ड नहीं है, व्रत-शील सयमादि भी नहीं है, जप-तप तीर्थयात्रा भी नहीं है, किसी की सेवा-चाकरी आदि भी नही है । इस मोह के नाश का उपाय तो पर से भिन्न, राग से भिन्न, पर्याय से पार एवं सर्वपर्यायो मे एकाकार तथा गुणभेद से भिन्न, प्रदेशभेद से भिन्न अनन्तगुणात्मक असख्यातप्रदेशी एक भगवान आत्मा मे अपनापन स्थापित करना, उसी का विचार करना, उसी का मथन करना, घोलन करना, उसी का ध्यान करना, — इसीप्रकार जीवन भर उसी का रसपान करते रहना है ।

इसलिए हे भाई । तुम अपने ज्ञान के परमशुद्धनिश्चयनयरूप अश को जगाकर निज भगवान आत्मा, त्रिकाली शुद्धज्ञायकभावरूपी हंस को खोज लो। अरे भाई । अब जग जाइये, उसी के रस मे पग जाइये, उसी मे समा जाइये, क्योंकि मिथ्यात्व के नाश का एक यही सम्यक्पुरुषार्थ है ।

यदि एक मुहूर्त के लिए भी तेरे इस मिथ्यात्व का नाश हो गया तो तेरा कल्याण हुए बिना न रहेगा, तू अनन्तसुखी हुए बिना न रहेगा, तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी, होगी, अवश्य होगी, क्योंकि मार्ग यही है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं ।

अत हे भाई । जैसे भी बने मरपच कर भी यह कार्य अवश्य करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा । •

मेरी भावना

भाई । अनन्त शान्ति और सुख प्राप्त करने का तो एकमात्र यही मार्ग है । अत मेरी तो यही भावना है कि यह आध्यात्मिक परमसत्य, त्रैकालिक परमसत्य, ज्ञानानन्दस्वभावी, ध्रुव, आत्मतत्त्व— जिन्हें खोजना हैं, वे खोजें, जानना है, वे जानें, पाना है, वे पावें। जिन्होंने खोज लिया हो, पा लिया हो, वे उसी में जम जावें, रम जावें, समा जावें और अनन्तसुखी हों, शान्त हों ।

—सत्य की खोज, पृष्ठ २२८

समयसार पद्यानुवाद

रंगभूमि एवं जीव-अजीव अधिकार

(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-परहित।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥१॥

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्व-समय ।
जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय ॥२॥

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ॥३॥

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा ।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥४॥

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन ।
पर नहीं करना छलग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥५॥

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥६॥

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥७॥

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥८॥

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा ।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥९॥

जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली ।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली ॥१०॥

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ॥११॥

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं ॥१२॥

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥१३॥

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को ।
संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ॥१४॥

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को ।
द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे ॥१५॥

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही है आतमा बस कहै निश्चयनय सदा ॥१६॥

'यह नृपति है' – यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करे ।
अनुचरण उसका ही करे अति प्रीति से सेवा करें ॥१७॥

यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए ।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए ॥१८॥

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या है हमारे ये सभी ।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी ॥१९॥

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब पर द्रव्य ये ।
हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ ये ही ॥२०॥

हम थे सभी के या हमारे थे सभी गत काल में ।
हम होयगे उनके हमारे वे अनागत काल में ॥२१॥

ऐसी असंभव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें ।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें ॥२२॥

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय ।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहें ॥२३॥

सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह ।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ? ॥२४॥

जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब ।
ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं–यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
सकलज्ञेय ज्ञायक नमौ, समयसार सद्रूप ॥१॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥२॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ॥
परमविशुद्धी को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से ॥३॥

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ॥
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥५॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥
नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए ॥६॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों मे व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ॥७॥

(रोला)

शुद्ध कनक ज्यों छुपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छुपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।
अरे भव्यजन । पद-पद पर तुम उसको जानों ॥८॥
निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहे क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो ।
शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई ॥९॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है — ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१०॥
पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते है बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन। तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥११॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत् ।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥
तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित ।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥१२॥
शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो ।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके ।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥१३॥

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥१४॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥

मेचक कहा है आतमा दृग ज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमातमा बस है अमेचक स्वयं से ।।
परमाण से मेचक-अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ।।१६।।

आतमा है एक यद्यपि किन्तु नयव्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से ।।
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
इसे जाने बिन जगतजन ना लगें सन्मार्ग में ।।१७।।

आतमा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ।।
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।।
है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से ।।१८।।

मेचक अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या ।।
हो साध्यसिद्धि एक बस सद्ज्ञानदर्शनचरण से ।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचें संसरण से ।।१९।।

त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ।।
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ।
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ।।२०।।

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से ।
भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो ।।
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ।।२१।।

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो ।
रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ।।
तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ।।२२।।

निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का ।
हे आत्मन् । जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ।।
जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही।
तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ।।२३।।

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से ।
जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से ।।
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरे ।
उन सहसअठ लक्षण सहित जिन-सूरि को वंदन करे ।।२४।।

प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को ।
अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को ।।
सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौंदर्य से ।
अद्भुत अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से ।।२५।।

गंभीर सागर के समान महान मानस मंग हैं ।
नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग है ।।
सहज ही अद्भुत अनूपम अपूरव लावण्य है ।
क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवर अंग हैं ।।२६।।

।। इति ।।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की नामावली

क्र स	दातारो के नाम	राशि
१	साहित्य प्रकाशन ध्रुवफण्ड, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	२,५०१ ००
२	श्रीमती भानकँवरजी मातु श्री निहालचन्दजी जैन, जयपुर	१,००१ ००
३	श्री भभूतमलजी चम्पालालजी भण्डारी, बैंगलौर	१,००० ००
४	श्रीमती पतासीदेवी पाटनी, लाडनू	१,००० ००
५	श्री चिन्तामणी जैन एडवोकेट, कोलारस	५०१ ००
६	विनयदक्ष चेरिटेबल ट्रस्ट, कहाननगर सोसायटी, बम्बई	५०१ ००
७	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	५०१ ००
८	श्रीमती सरस्वती देवी द्वारा-हुलासमलजी, कलकत्ता	५०० ००
९	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	५०० ००
१०	श्री प्रकाशचद गम्भीरचदजी जैन, अहमदाबाद	५०० ००
११	श्री मानमलजी, भोपाल	५०० ००
१२	श्रीमती प्रभादेवी, जयपुर	३०१ ००
१३	श्रीमती ताराचद प्रमोदकुमारजी, रुडकी	३०१ ००
१४	श्री मागीलालजी पदमचन्दजी पहाडिया, इदौर	३०१ ००
१५	श्री माणकचन्द पाटोदी, लुहारदा	३०१ ००
१६	प्रेमकुमारी, ओसवाल इन्डस्ट्रीज एजेन्सी, जयपुर	२५१ ००
१७	श्री सज्जन मेहता तुकोगज, इदौर	२५१ ००
१८	श्रीमती नलिनी प्रफुल्लभाई दोशी, बम्बई	२५१ ००
१९	श्रीमती पुष्पाबाई जैन (जीजीबाई) पत्नी अजितकुमारजी जैन	२५१ ००
२०	श्रीमती आरती अतुल जैन, 12, गणेशभवन, मलाड ईस्ट, बम्बई	२५० ००
२१	श्री शामजीभाई भाणजीभाई शाह, द्वारा श्री प्रेमजीभाई, बम्बई	२५० ००
२२	श्रीमती अमृताबहन प्रेमजी जैन द्वारा अतुलभाई जैन, बम्बई	२५० ००
२३	श्री महावीरप्रसादजी सरावगी, कलकत्ता	२५० ००
२४	श्री पदमचदजी सेठी, कतरासगढ, बिहार	२५० ००
२५	श्री सनतकुमारजी जैन, हरसूद	२५० ००
२६	श्री अभिनन्दनप्रसादजी जैन, सहारनपुर	२०१ ००
२७	श्रीमती कान्ता ध प पूनमचन्दजी छाबडा, इदौर	२०१ ००
२८	श्री झमकलालजी बडजात्या, रतलाम	२०१ ००

क्र स	दातारों के नाम	राशि
२९	श्रीमती किशोरबाई, महू	२०१ ००
३०	श्री मदनलाल जैन, शान्तिनाथ मदिर, मोदीनगर	२०१ ००
३१	श्री भानुकुमारजी बडजात्या, इदौर	२०१ ००
३२	श्रीमती सुशीलाबाई ध प. श्री जवाहरलालजी, विदिशा	२०१ ००
३३	श्रीमती राजकुमारी गोधा ध प कोमलचदजी गोधा, जयपुर	२०१ ००
३४	श्रीमती प्रेमचद बडजात्या द्वारा श्री रोशनलाल हरकचन्द, दिल्ली	२०१ ००
३५	श्रीमती रतनबाई पाण्ड्या, इदौर	२०० ००
३६	श्री मोतीलालजी छाबडा, सीकर	२०० ००
३७	श्रीमती शातिदेवी ध प सम्पतजी पाटनी, जयपुर	२०० ००
३८	श्री सजय प्रफुल्लचद दोशी, बम्बई	१५१ ००
३९	श्री पद्मावती बाकलीवाल, जयपुर	१५१ ००
४०	श्री मिलापचद शाह, दादर-बम्बई	१५१ ००
४१	श्री मागीलाल अर्जुनलालजी, इदौर	१५१ ००
४२	श्रीमती कमलादेवी, जयपुर	१५१ ००
४३	स्व श्रीमती कुसुमलता बसल एव सुनन्दबसल स्मृतिनिधि, द्वारा श्री राजेन्द्रप्रसाद बसल, अमलाई	१११ ००
४४	श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई	१११ ००
४५	मै ग्राफिक ऑफसेट प्रिन्टर्स, जयपुर	१११ ००
४६	श्री राजीव सघी, जयपुर	१०१ ००
४७	श्री महावीरकुमार ताराचन्द जैन, जनता कॉलोनी-जयपुर	१०१ ००
४८	कुन्दकुन्द मूलचन्द चे ट्रस्ट, अजमेर	१०१ ००
४९	श्रीमती कमलादेवी सोगानी, जयपुर	१०१ ००
५०	श्रीमती चन्दादेवी, जनता कॉलोनी-जयपुर	१०१ ००
५१	श्री चौधरी फूलचन्द जैन द्वारा मनोज एण्ड क , बम्बई	१०१ ००
५२	श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमारजी जैन, अशोक बैंगल्स, बैंगलौर	१०१ ००
५३	श्रीमती सुशीलाबाई नन्दकिशोर सिघई, इदौर	१०१ ००
		१७,०१८ ००